वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
स्वामी विवेकानन्द का
१५० वाँ जन्मवर्ष
वर्ष ५१ अंक ३
मार्च २०१३
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च २०१३

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५१
अंक ३

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छतीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

पुरखों की थाती

क्षणशः कणशः चैव विद्यामर्थं च साधयेत् ।
क्षणत्यागे कुतो विद्या कणत्यागे कुतो धनम् ।।२५३।।

– प्रति क्षण विद्या का अर्जन करना चाहिये और प्रति कण द्वारा धन-संचय करना चाहिये, क्योंकि क्षण को नष्ट करने से विद्या और कण को नष्ट करने से धन भला कैसे एकत्र होगा !

क्षमा-शस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेव उपशाम्यति ।।२५४।।

– जिस व्यक्ति के हाथ में क्षमारूपी शस्त्र विद्यमान है, उसका दुष्ट व्यक्ति कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, क्योंकि तृणरहित खाली स्थान पर गिरी हुई अग्नि स्वयं ही शान्त हो जाती है ।

क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम् ।।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ।।२५५।।

– कोई शत्रुता दिखाये या मित्रता – दोनों के प्रति क्षमा-भाव रखना महात्माओं का सद्गुण है; परन्तु यदि राजा लोग अपराधियों तथा हिंस्र पशुओं के प्रति क्षमाभाव दिखायें, तो वही उनका दोष बन जाता है ।

क्षमापरं तपो नास्ति, न सन्तोषात् परं सुखम् ।
न च लोभात् परो व्याधिर्नच धर्मो दयापरः ।।२५६।।

– क्षमा से बढ़कर तप, सन्तोष से अधिक सुख, लोभ से बड़ी व्याधि और दया की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्य कोई धर्म नहीं है ।

क्षणे रुष्टाः क्षणे तुष्टाः रुष्टाः तुष्टाः क्षणे क्षणे ।
अव्यवस्थित-चित्तानां प्रसादः अपि भयंकरः ।। २५७

– जिन लोगों का चित्त अव्यवस्थित है, वे क्षण भर में ही नाराज हो जाते हैं और अगले ही क्षण प्रसन्न हो जाते हैं। क्षण-क्षण उनका मनोभाव बदलता रहता है। ऐसे लोगों अस्थिर चित्तवालों की कृपा भी भयंकर होती है।

क्षमा बलमशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ।
क्षमया वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न सिद्ध्यति ।।२५८

– क्षमा दुर्बलों की शक्ति है और सबलों का आभूषण है। क्षमा से दुनिया को वश में किया जा सकता है। भला ऐसा कौन-सा कार्य है, जो क्षमा के द्वारा नहीं सिद्ध हो सकता।

क्षते प्रहाराः निपतन्ति अभीक्ष्णं
धनक्षये वर्धति जाठराग्निः ।
आपत्सु वैराणि समुद्भवन्ति
छिद्रेषु अनर्थाः बहुली भवन्ति ।।२५९।।

– शरीर में जहाँ घाव है, वहीं बारम्बार चोट लगती है; व्यक्ति जब अभावग्रस्त रहता है, तो भूख भी अधिक लगती है; जब वह विपत्ति में होता है, तो नये-नये शत्रु पैदा हो जाते हैं; बुरा करनेवालों के जीवन में अनेक समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं।

क्षान्तिश्चेत् कवचेन किं किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनां
ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम् ।
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः किमु धनैर्विद्याऽनवद्या यदि
व्रीडा चेत् किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ।।

– मनुष्य के पास यदि क्षमा हो, तो फिर उसे कवच की क्या जरूरत? यदि क्रोध हो, तो उसे शत्रुओं की क्या जरूरत? यदि सगे-सम्बन्धी हों, तो (दग्ध करने को) अग्नि की क्या जरूरत? यदि मित्र हो, तो सिद्ध औषधियों की क्या जरूरत? यदि दुष्ट हो, तो साँप की क्या जरूरत? यदि निर्दोष विद्या हो, तो धन की क्या जरूरत? यदि लज्जा हो, तो गहनों की क्या जरूरत? यदि कवित्व हो, तो फिर साम्राज्य की क्या जरूरत?

क्षणे क्षणे यन्नवताम् उपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।।२६१

– जब किसी वस्तु या व्यक्ति में प्रतिक्षण नवीनता प्राप्त होती रहती है, उसी को रमणीयता कहते हैं। (माघकवि)

आत्म-प्रबोध

– १ –

(गजल – कहरवा)

वृथा ही ढूँढ़ता है तू,
नहीं सुख-शान्ति जीवन में ।
बदलता जा रहा है स्वप्न-सा, संसार क्षण क्षण में ।।

न सुख-सम्पद, न सुत-दारा,
नहीं कोई यहाँ तेरा ।
है यह सब खेल माया का, न होना लिप्त जीवन में ।।

कहाँ से कौन तू आया,
न सोचा, जग में ललचाया ।
समझ वह तत्त्व तू निज को, जो ओतप्रोत जग-जन में ।।

मिटा दे अपनी हस्ती को,
लुटा दे अपनी बस्ती को ।
प्रभु ही सत्य हैं केवल, सदा जो व्याप्त कण कण में ।।

अभी संकल्प तू कर ले,
इसे मत व्यर्थ जाने दे ।
लगा अनमोल जीवन को, उन्हीं के ध्यान-चिन्तन में ।।

– २ –

(भैरवी – कहरवा)

किसको ढूँढ़ रहे हो वन में,
उनसे ही निःसृत जग सारा, व्याप रहे कण कण में ।।

चाहे करो नेम-व्रत-साधन,
याग-यज्ञ-जप-तप-आराधन,
कुछ भी नहीं मिलेगा इनसे, काम-लोभ यदि मन में ।।

इष्टदेव को देख सभी में,
सेवा करो स्नेह रख जी में,
होगा चित्त पुनीत तुम्हारा, मुक्ति मिलेगी क्षण में ।।

दीन-दुखी-पापी-तापित जो,
नारायण की ही मूरत वो,
निज सर्वस्व समर्पण कर दो, इनके ही पूजन में ।।

– *विदेह*

पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

इंग्लैंड में पदार्पण –

ब्रिटिश भूमि पर अंग्रेजों के प्रति मुझसे अधिक घृणा का भाव लेकर कभी किसी ने पैर न रखा होगा।... परन्तु जितना ही मैं उन लोगों के साथ रहने लगा, जितना ही उसके साथ मिलने लगा, जितना ही ब्रिटिश जाति के जीवन-यन्त्र की गति पर ध्यान देने लगा, जितना ही यह समझने लगा कि उस जाति का हृदय-स्पन्दन किस जगह हो रहा है, उतना ही मैं उन्हें प्यार करने लगा।[१०६]

लंदन, सितम्बर १८९५ : मैं सकुशल लंदन पहुँच गया। अपने मित्र (श्री स्टर्डी) मिल गये थे, अत: मैं इनके घर में सकुशल हूँ। स्थान रमणीय है। इनकी पत्नी देवदूत हैं और इनके जीवन में भारत भरा हुआ है। ये वहाँ वर्षों रहे – संन्यासियों से मिले-जुले, उनका खाना खाया आदि, आदि; अत: तुम समझ सकती हो, मैं कितना प्रसन्न हूँ। भारत से लौटे अवकाशप्राप्त बहुत-से जनरलों से भेंट हुई, वे मेरे प्रति बहुत ही शिष्ट और विनीत व्यवहार करते हैं। ... कोई भी सड़क पर टकटकी लगाकर मुझे नहीं देखता।

भारत के बाहर दूसरे किसी भी स्थान की अपेक्षा यहाँ मुझे बड़ा ही सुखद लगता है। ये अंग्रेज हमें जानते हैं और हम उन्हें जानते हैं। यहाँ शिक्षा और सभ्यता का स्तर बहुत ऊँचा है – यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन ला देता है और कई पीढ़ियों की शिक्षा से ऐसा होता है। ...

मेरे मित्र संस्कृत के विद्वान् हैं, अत: हम लोग शंकराचार्य के महान् भाष्यों पर काम करने में व्यस्त हैं। दर्शन और धर्म के अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं है।[१०७]

यहाँ पाश्चात्य लोगों को यह सिखलाया जाता है कि समाज का आरम्भ १८०० वर्ष पूर्व 'नव व्यवस्थान' के साथ ही हुआ, इसके पहले समाज नहीं था। सम्भव है, यह बात पश्चिम के बारे में सत्य हो, पर सारी दुनिया के लिए वह सत्य नहीं हो सकती। जब मैं लन्दन में भाषण दिया करता था, तब एक बुद्धिमान और बौद्धिक मित्र मुझसे वाद-विवाद किया करते थे। एक दिन अपने सारे शस्त्र चला चुकने के बाद वे सहसा बोल उठे, "लेकिन यह बताइये कि आपके ऋषि इस इंग्लैंड में हमें ज्ञान देने क्यों नहीं आये?" मैंने कहा, "तब इंग्लैंड था ही कहाँ, जो ज्ञान देने आते? क्या वे जंगलों को सिखलाते?"[१०८]

कैवरशम, इंग्लैण्ड, २४ सितम्बर १८९५ : मैं स्वत:प्रवृत्त होकर लोगों से परिचित होना नहीं चाहता। यदि प्रभु ही लोगों को लाकर मेरे सामने हाजिर कर दें, तो ठीक है। दूसरों पर हावी होना मेरी नीति नहीं है।... इसके आगे आनेवाली तरंग की प्रतीक्षा में मैं हूँ। 'न टालो, न ढूँढ़ो – प्रभु अपनी इच्छानुसार जो भेजें, उसके लिए प्रतीक्षा करते रहो' – यही मेरा मूलमंत्र है।[१०९]

कैवरशम, ४ अक्तूबर १८९५ : अब मैं इंग्लैंड में हूँ।... श्री स्टर्डी ने मुझसे मंत्रदीक्षा ली है; ये बड़े उद्यमी तथा सज्जन व्यक्ति हैं।... श्रीरामकृष्ण रक्षा कर रहे हैं, यह मैं स्पष्ट देख रहा हूँ। अरे पागल! परी जैसी औरतें, लाखों रुपये – ये सब मेरे लिए तुच्छ हो रहे हैं, यह क्या मेरे बल पर हो रहा है? या वे रक्षा कर रहे हैं इसलिए![११०]

कैवरशम, अक्तूबर १८९५ : मुझे इंग्लैंड बड़ा सुखद लग रहा है। मैं अपने मित्र के साथ 'दर्शन' पर ही गुजारा कर रहा हूँ, खाने-पीने और धूम्रपान के लिए गुंजाइश बहुत कम है। द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि के अतिरिक्त हमें कुछ नहीं मिल रहा है।... यहाँ के अंग्रेज बड़े मित्रतापूर्ण हैं। कुछ ऐंग्लो-इंडियनों को छोड़ दें, तो ये लोग काले आदमियों से जरा भी घृणा नहीं करते। वे मुझे सड़कों पर 'हूट' भी नहीं करते। कभी-कभी मैं सोचने लगता हूँ कि कहीं मेरा चेहरा गोरा तो नहीं हो गया, किन्तु दर्पण सारे सत्य को प्रकट कर देता है। फिर भी लोग यहाँ बड़े मित्रतापूर्ण हैं।

फिर जो अंग्रेज स्त्री-पुरुष भारत से प्रेमभाव रखते हैं, वे स्वयं हिन्दुओं से कहीं अधिक हिन्दू-भावापन्न हैं। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि मैं ढेर सारी सब्जियाँ पूर्णत: भारतीय रीति से पकवा लेता हूँ। जब अंग्रेज कोई काम हाथ में लेता

है, तब वह उसकी गहराइयों में प्रविष्ट हो जाता है।[१११]

कैवरशम, अक्तूबर १८९५ : श्री स्टर्डी तारक दादा से परिचित हैं। वे मुझे अपने निवास पर ले आये हैं और हम इंग्लैंड में एक आन्दोलन पैदा करने की कोशिश कर रहे हैं। इस वर्ष पुन: नवम्बर में अमेरिका के लिए प्रस्थान करूँगा।[११२]

कैवरशम, अक्तूबर १८९५ : मुझे दिन-रात मेहनत और फिर लट्टू की तरह चक्कर लगाना पड़ता है।... अपने यहाँ की तरह यहाँ भी भाषण के लिए उल्टा अपने गाँठ से खर्चा करना पड़ता है। परन्तु कुछ दिनों तक क्रम को जारी रखने और प्रसिद्धि हो जाने पर खर्च की समस्या हल हो जाती है।... निरन्तर इधर-उधर घूमते हुए भाषण देने के फलस्वरूप मेरा शरीर टूट चुका है – नींद तो प्राय: आती ही नहीं। फिर अकेले ही सब करना पड़ता है।[११३]

कैवरशम, अक्तूबर १८९५ : व्यक्ति-स्वातंत्र्य ही मेरा आदर्श है। व्यक्तियों को प्रशिक्षित करने के सिवा मेरे मन में अन्य कोई आकांक्षा नहीं है।... जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं एक बार फिर कहता हूँ – मुझे कोई भी सम्प्रदाय या संगठन नहीं बनाना है – मैं थोड़ा-सा कुछ जानता हूँ और उसकी उदार भाव से शिक्षा देता हूँ। जिस विषय में मैं अज्ञ हूँ, उसे सहज भाव से स्वीकार कर लेता हूँ। जब मैं देखता हूँ कि कोई थियासॉफिस्ट या ईसाई या मुसलमान या संसार के किसी भी व्यक्ति से सहायता पा रहा है, तो मुझे अपार खुशी होती है। एक संन्यासी के रूप में मैं अपने को इस संसार का सेवक मानता हूँ, स्वामी नहीं। तो भी यदि लोग मुझसे प्रेम करते हैं, तो उनका स्वागत करता हूँ; और यदि घृणा करते हैं, तो मैं उनका भी हार्दिक स्वागत करता हूँ।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी। प्रत्येक व्यक्ति को अपना कार्य स्वयं करना होगा। मैं किसी का भी तिरस्कार नहीं करता और न ही मुझे संसार में किसी से सहायता पाने का अधिकार है। जिस किसी ने मेरी सहायता की है या करेगा, यह उसकी अपनी कृपा से होगा, मेरे अधिकार से नहीं और इसके लिये मैं उनका चिर ऋणी रहूँगा।

तुम्हारी बुरी परिस्थितियों के विषय में मुझे खेद है, परन्तु मेरी परिस्थिति तुमसे भी बुरी है। इस देश (इंग्लैंड) में मुझे अपनी जेब से सब कुछ खर्च करना पड़ता है, परन्तु आमदनी बिल्कुल भी नहीं है। लन्दन के कमरों के लिये ही मुझे प्रति सप्ताह ३ डालर देने पड़ते हैं, अन्य चीजों के लिये अलग से खर्च करना पड़ता है। किससे शिकायत करूँ? यह मेरा प्रारब्ध है और मुझे भोगना पड़ेगा। जब मैं संन्यासी बना, तो मैंने सोच-समझकर ही यह कदम उठाया था कि सम्भव है यह शरीर अनाहार से नष्ट हो जाय। तो भी क्या? संन्यासी को कभी शिकायत नहीं करनी चाहिये। वह इस संसार में एक पर्यटक मात्र है। भाग्य में जो भी जुटे, सबको आशीर्वाद देना चाहिये।... मैं एक भिक्षुक हूँ और मेरे मित्र निर्धन हैं। मैं निर्धनता का स्वागत करता हूँ। मुझे इस बात की बड़ी खुशी है कि कभी-कभी मुझे भूखे रह जाना पड़ता है। मैं किसी से सहायता नहीं माँगता। जरूरत ही क्या है? सत्य स्वयं ही अपना प्रचार करेगा, मेरी सहायता के अभाव में यह नष्ट नहीं होने वाला है !! गीता कहती है, "सुख और दुख को समान मान कर, सफलता और असफलता को समान मानकर युद्ध में लगे रहो।" सभी परिस्थितियों में वह शाश्वत प्रेम, अचल प्रशान्ति; और सर्वोपरि ईर्ष्या तथा शत्रुता के भाव से पूर्ण मुक्ति ही विजय प्राप्त करेगी – अन्य कुछ भी नहीं। ...

पूरे इंग्लैंड में मेरा केवल एक ही मित्र है, जो आवश्यकता पड़ने पर मुझे भोजन तथा आश्रय प्रदान करता है।[११४]

लन्दन, २३ अक्तूबर १८९५ : अपने गुरुदेव के उपदेशों के आलोक में मैंने अपने प्राचीन शास्त्रों को जैसा समझा है, मैं उसी की शिक्षा देता हूँ। अलौकिक उपाय से प्राप्त किसी अलौकिक प्रमाण का मैं दावा नहीं करता। मेरे उपदेशों में सर्वोच्च बुद्धि को जो ग्राह्य प्रतीत हो और विचारशील व्यक्ति जो कुछ स्वीकार कर सकें, उसी को मैं अपना पुरस्कार समझूँगा। किसी रूप में भक्ति, ज्ञान अथवा योग की शिक्षा देना ही सभी धर्मों का लक्ष्य है। वेदान्त इन साधना-पद्धतियों का विशुद्ध विज्ञान है और मैं इसी विज्ञान का प्रचार करता हूँ। उसे अपने निजी जीवन में ठोस रूप देने का कार्य मैं व्यक्तियों पर ही छोड़ देता हूँ। प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने अनुभव को ही मैं प्रमाण-रूप से ग्रहण करने का उपदेश देता हूँ। यदि मैं किन्हीं ग्रन्थों का उल्लेख करता हूँ, तो उन्हीं का जो प्राप्य हैं और जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही पढ़ सकता है। सर्वोपरि मैं साधारण लोगों के लिए सर्वथा अदृश्य रहनेवाले उन अलौकिक महात्माओं की प्रामाणिकता का उपदेश नहीं करता, जो किसी व्यक्ति को माध्यम बनाकर अपनी बात कहते हैं; और न मैं यह दावा करता हूँ कि किन्हीं गुप्त पुस्तकों या पाण्डुलिपियों से मैंने कुछ सीखा है। न मैं किसी गुह्य समाज का प्रचारक हूँ और न मैं उस प्रकार की संस्थाओं से किसी प्रकार कल्याण होने में विश्वास ही रखता हूँ। सत्य स्वयं प्रमाण है और वह दिन के प्रकाश को सह सकता है।...

मैं केवल उस आत्मा का उपदेश करता हूँ, जो सभी प्राणियों के हृदय में गूढ़ रूप से स्थित है और सबमें व्याप्त है। आत्मा का ज्ञान रखनेवाले और उसके आलोक में अपना जीवन बितानेवाले मुट्ठी भर शक्तिशाली लोग आज भी सारी दुनिया में ऐसी क्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं, जैसी कि पहले भी किसी-किसी दृढ़चित्त महापुरुष ने अपने-अपने युग में की थी।

१८९३ ई. में शिकागो में आयोजित हुई धर्म-महासभा में मैंने हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व किया था। तब से मैं संयुक्त राज्य अमेरिका में भ्रमण करते हुए व्याख्यान दे रहा हूँ।

अमेरिकी लोग मेरे व्याख्यानों के बड़े आग्रहवान श्रोता और सहानुभूतिशील मित्र रहे हैं। वहाँ मेरा कार्य इतना जम गया है कि मुझे शीघ्र ही वहाँ लौट जाना पड़ेगा।...

मैं एक ऐसे दर्शन का प्रचार कर रहा हूँ, जो जगत् के सारे धर्मों की नींव बन सकती है। मैं सभी धर्मों के प्रति परम सहानुभूति रखता हूँ – मेरा उपदेश किसी धर्म का विरोधी नहीं है। मैं व्यक्ति की ओर ही विशेष ध्यान देता हूँ, उसे तेजस्वी बनाने की चेष्टा करता हूँ। मैं यही शिक्षा देता हूँ कि हर व्यक्ति साक्षात् ब्रह्म है और सबको उनके इसी आन्तरिक ब्रह्म भाव के विषय में सचेत होने के लिए आह्वान करता हूँ। जानते हुए हो या अनजाने, वस्तुत: यही सब धर्मों का आदर्श है।

मैं मनुष्यों को उपरोक्त उपदेशों से अनुप्राणित करने और अपने-अपने ढंग से दूसरों के बीच उनका प्रचार करने के लिये उत्साहित करता हूँ। वे मेरे उपदेशों को अपनी इच्छानुसार रूपान्तरित करें। मैं मतों के रूप में उनकी शिक्षा नहीं देता हूँ। अन्तत: सत्य की ही विजय अवश्यम्भावी है।

जिस वास्तविक कार्यतंत्र के माध्यम से मैं कार्य कर रहा हूँ, उसका भार मेरे दो-एक मित्रों पर है। ...

उसके बाद अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो भी उपाय दिखेंगे – लोगों के बैठकखानों या अन्य किसी स्थान की सभा में उपस्थित होना, पत्रों का उत्तर देना या व्यक्तिगत रूप से चर्चा करना आदि – मैं इन सबको अपनाने के लिए तैयार हूँ। इस अर्थ-लालसा-प्रधान युग में मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरा कोई भी कार्य धनोपार्जन के लिए नहीं है।[११५]

लंदन, २४ अक्तूबर १८९५ : मेरा यह जीवन बड़ा ही विचित्र है – बिना-विश्राम सर्वदा भ्रमण करते रहना। विश्राम ही मेरी मृत्यु सिद्ध होगी – आदत में ऐसी ही शक्ति है। थोड़ी सफलता यहाँ, थोड़ी वहाँ और बहुत-से धक्के खाना! पेरिस का काफी-कुछ देखा। न्यूयार्क की मित्र जोसेफीन मैक्लाउड ने एक महीने तक मुझे यह सब कुछ दिखाया। वहाँ भी अमेरिकी नारी की ही दयालुता दिखी! यहाँ इंग्लैंड में लोग हमें अधिक जानते हैं। जो लोग हिन्दुओं को पसन्द नहीं करते, वे उनसे घृणा करते हैं; और जो पसन्द करते हैं, उनकी पूजा करते हैं।

यहाँ का कार्य बड़ा धीमा, परन्तु स्थिर है – दिखावटी या सतही नहीं है। सामान्यत: अंग्रेज महिलाएँ अमेरिकी महिलाओं की तरह उच्च शिक्षित या उतनी सुन्दर नहीं हैं। परन्तु वे निष्ठावान पत्नियाँ, या नेपथ्य में रहनेवाली पुत्रियाँ या चर्च जानेवाली माताएँ हैं – परम्परा की ठोस प्रतिमूर्ति।

कभी-कभी और सामान्यत: जब सफलता मिलती है, तो मुझे एक तरह की निराशा का बोध होता है; मुझे महसूस होता है कि सब निरर्थक है – मानो इस जीवन का कोई भी तात्पर्य नहीं, मानो यह एक दिवा-स्वप्न हो। प्रेम, मित्रता, धर्म, पुण्य, दया – सब मन की क्षणिक अवस्थाएँ हैं। मुझे लगता है कि मुझे इन सबसे दूर जाना है; इसके बावजूद मैं कहता हूँ – और कितना! तथापि शरीर तथा मन को अपने प्रारब्ध भोगने ही होंगे। आशा करता हूँ कि यह उतना बुरा नहीं होगा।...

तो भी जीवन गहराई की ओर विकसित होता और स्वयं पर से नियंत्रण खोता हुआ-सा प्रतीत होता है।

जीवन से न तो अरुचि है और न आनन्द – बल्कि एक तरह की उपेक्षा का भाव। सारी चीजें स्वयं अपना मार्ग बना लेती हैं; कौन प्रतिरोध कर सकता है – एक ओर खड़े हो जाओ और देखते रहो। ठीक है, मैं अपने विषय में इतना सब नहीं कहूँगा। पक्का अहंकारी! तुम जानते हो, मैं हमेशा से वैसा रहा हूँ। ... यह जीवन बड़ा मजेदार है, है न?...

एक शान्त और विश्रामपूर्ण विवाहित जीवन ही दुनिया के अधिकांश लोगों के लिये अच्छा है। श्री स्टर्डी नामक जिन मित्र के साथ मैं यहाँ रहता हूँ, वे कई बार भारत जा चुके हैं। उन्होंने हमारे साधु-सन्तों का संग किया है और अपनी आदतों में बड़े संयमी हैं; परन्तु आखिरकार उन्होंने शादी कर ली और स्थिर हो गये हैं। उनका एक बड़ा ही सुन्दर छोटा-सा बच्चा है। उनका जीवन बड़ा अच्छा है। वैसे उनकी पत्नी दर्शनशास्त्र तथा संस्कृत की ज्यादा परवाह नहीं करती, परन्तु उसका पूरा जीवन पति को समर्पित है और पति का जीवन संस्कृत दर्शन-शास्त्र को समर्पित है! तो भी, मुझे लगता है कि यह सिद्धान्त और व्यवहार का एक अच्छा समीकरण है।[११६]

इंग्लैंड, अक्तूबर या नवम्बर, १८९५ : व्यक्ति को अपनी विद्वत्ता के आधार पर, इन लोगों पर हावी होना पड़ता है। अन्यथा वह एक ही फूँक में उड़ जायगा। ये लोग न तो साधु समझते हैं, न संन्यासी और न त्याग का भाव ही। जो बात ये समझते हैं, वह है विशाल अध्ययन, वक्तृत्व-शक्ति का प्रदर्शन और अदम्य क्रियाशीलता।[११७]

लन्दन, १८ नवम्बर, १८९५ : इंग्लैंड में मेरा कार्य वास्तव में बहुत अच्छा चल रहा है। इसे देखकर मैं स्वयं विस्मित हूँ। अंग्रेज लोग समाचार-पत्रों द्वारा अधिक बातें नहीं करते, बल्कि चुपचाप काम करते हैं। अमेरिका की अपेक्षा इंग्लैंड में निश्चय ही अधिक कार्य कर सकूँगा। वे दल-के-दल आते हैं और इतने लोगों को बैठाने का मेरे पास स्थान भी नहीं रहता, इसलिए वे सब लोग यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी, पालथी मारकर जमीन पर बैठती हैं, मैं उनसे कहता हूँ कि वे यह कल्पना करने का यत्न करें कि वे भारत के नभमण्डल के नीचे एक फैले हुए वटवृक्ष की छाया-तले बैठे हैं; और उन्हें यह विचार अच्छा लगता है। मुझे आगामी सप्ताह में जाना होगा, इससे ये लोग बड़े उदास हैं। उनमें से कुछ सोचते हैं

कि इतनी जल्दी जाने से मेरे काम को हानि पहुँचेगी। परन्तु मैं ऐसा नहीं समझता। मैं मनुष्य या किसी वस्तु पर आश्रित नहीं रहता, केवल भगवान पर भरोसा करता हूँ – और वे मेरे माध्यम से कार्य करते हैं।...

जैसी कि भारतीय कहावत है – मुझे मरने तक की फुरसत नहीं – केवल काम, काम और काम। मैं इसी में लगा हूँ। मैं स्वयं अपनी रोटी कमाता हूँ, अपने देश की सहायता करता हूँ, सब अकेले करता हूँ और फिर भी इन सबके लिये अपने मित्रों तथा शत्रुओं से केवल आलोचना ही प्राप्त करता हूँ! खैर,... मुझे सब कुछ सहना पड़ेगा। मैंने कलकत्ते के एक संन्यासी को बुलाया है और मैं उसे लन्दन में काम करने के लिए छोड़ जाऊँगा। अमेरिका के लिए मैं एक अन्य को चाहता हूँ – अपने पसन्द का आदमी! ... मैं सचमुच ही निरन्तर काम करते-करते थक गया हूँ। कोई अन्य हिन्दू इतना कठोर श्रम करता, तो कब का मर चुका होता।... मैं सुदीर्घ विश्राम करने के लिए भारत जाना चाहता हूँ।[११८]

एस.एस. ब्रिटानिक (जलयान पर) २९ नवम्बर १८९५ – अब तक की यात्रा बड़ी सुखद रही है। जहाज का अधिकारी मुझ पर बड़ा मेहरबान रहा है और मेरे लिये एक केबिन की व्यवस्था कर दी है। एकमात्र असुविधा खाने की ही है। आज उन लोगों ने मुझे कुछ सब्जियाँ देने का वादा किया है।

हमारा जहाज इस समय लंगर डालकर खड़ा है। कुहरा इतना घना है कि जहाज आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिये मैं इसी अवसर का लाभ उठाकर कुछ पत्र लिख रहा हूँ।

यह कुहरा बड़ा ही विचित्र है, यद्यपि धूप खिली हुई और आनन्ददायक है, तो भी कुहरा अभेद्य जैसा है।[११९]

पुनः अमेरिका में –

जैसे बुद्धदेव ने प्राच्य जगत् को सन्देश दिया था, वैसे ही मुझे पश्चिमी जगत् को एक सन्देश देना है।[१२०]

एक बार इंगरसोल ने मुझसे कहा था, "मैं इस संसार को पूरा भोगने में – सन्तरे को पूरा निचोड़ने में विश्वास रखता हूँ, क्योंकि हम इसी जगत् के अस्तित्व के विषय में पूरी तौर से निश्चिन्त हैं।" मैंने उत्तर दिया, "मैं इस जगत्-रूपी सन्तरे को निचोड़ने की आपसे भी अच्छी पद्धति जानता हूँ; और मैं इससे अधिक रस प्राप्त करता हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं मर नहीं सकता, अत: मुझे कोई हड़बड़ी नहीं है। मैं जानता हूँ कि भय का कोई कारण नहीं है, अत: आनन्दपूर्वक निचोड़ता हूँ। मेरा कोई कर्तव्य नहीं है, मुझे स्त्री-पुत्र और धन-संपत्ति का कोई बन्धन नहीं है, मैं सभी नर-नारियों से प्रेम कर सकता हूँ। प्रत्येक मेरे लिए ब्रह्मस्वरूप है। मनुष्य को ईश्वर जानकर उसके प्रति प्रेमभाव रखने में कितना आनन्द है! सन्तरे को इस प्रकार निचोड़ कर देखिए, इससे आपको दस हजार गुना अधिक रस मिलेगा। रस की प्रत्येक बूँद प्राप्त होगी।"[१२१]

पश्चिमी देशों में लोग मुझसे प्राय: ही पूछते थे, "आप मेरे मन के प्रश्नों को कैसे जान जाते हैं?" वह शक्ति मुझमें उतनी नहीं है। ठाकुर में तो यह सर्वदा विद्यमान रहती थी।[१२२]

न्यूयार्क, ८ दिसम्बर १८९५ : दस दिनों की कठोर और अत्यन्त ऊबाऊ यात्रा के बाद मैं सुरक्षित न्यूयार्क पहुँच गया। मेरे मित्रों ने कुछ कमरे ठीक कर रखे थे, जहाँ मैं अभी ठहरा हूँ। शीघ्र ही व्याख्यान आरम्भ करने का विचार है। इस बीच थियोसॉफिस्ट लोग बड़े घबड़ा-से गये हैं और मुझे क्षति पहुँचाने की यथासाध्य चेष्टा कर रहे हैं, परन्तु उनमें तथा उनके अनुयाइयों में कोई दम नहीं है।

मैं श्रीमती लेगेट तथा अन्य मित्रों से मिलने गया था। वे सदा से ही कृपालु तथा उत्साही रहे हैं।[१२३]

न्यूयार्क, ८ दिसम्बर १८९५ : मुझे दस दिनों की बड़ी भीषण यात्रा करनी पड़ी और उसके बाद मैं न्यूयार्क पहुँचा। कई दिनों तक मैं बेहद अस्वस्थ रहा।

यूरोप के स्वच्छ तथा सुन्दर नगरों की अपेक्षा न्यूयार्क बहुत गन्दा और दयनीय लगता है। अगले सोमवार से मैं काम आरम्भ कर दूँगा।[१२४]

❖ (क्रमशः) ❖
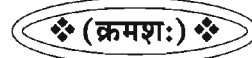
सन्दर्भ-सूची –

१०६. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. २०४; **१०७.** वही, खण्ड ४, पृ. ३४६-४७; **१०८.** वही, खण्ड ३, पृ. ११४; **१०९.** SwamiVivekananda in the West : New Discoveries, Vol 3, p. 230; **११०.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ३५२-५३; **१११.** वही, खण्ड ४, पृ. ३४८; **११२.** वही, खण्ड ४, पृ. ३४९; **११३.** वही, खण्ड ४, पृ. ३२४-२५; **११४.** SwamiVivekananda in the West : New Discoveries, Vol 3, p. 326-27; **११५.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. २२८; **११६.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ७१-७२; **११७.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ३२८; **११८.** वही, खण्ड ४, पृ. ३६१-६२; **११९.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ८, पृ. ३५८-५९; **१२०.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १०, पृ. ३७७; **१२१.** वही, खण्ड ७, पृ. ९१; **१२२.** वही, खण्ड ७, पृ. २५८; **१२३.** वही, खण्ड ४, पृ. ३६४; **१२४.** वही, खण्ड ४, पृ. ३६६
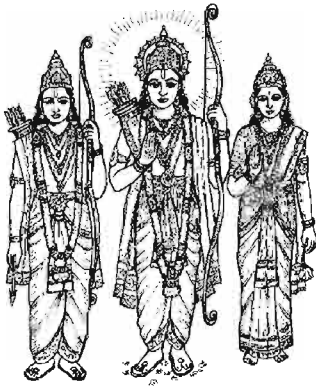
रामराज्य की भूमिका (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

जिस राज्य में प्रजा की आवश्यकताओं की पूर्ति भलीभाँति हो रही हो, वही रामराज्य है – गोस्वामीजी की मान्यता इतनी मात्र नहीं है। वह कल्याणकारी राज्य हो सकता है। उसकी भी समाज में खूब आवश्यकता है। पर वे दरिद्रता को कई सन्दर्भों में देखते हुए कहते हैं कि रावण का वध होने के बाद भगवान राम जब अयोध्या लौट आए, तब रामराज्य की घोषणा हुई। उनकी दृष्टि में दशानन – समृद्धि तथा दरिद्रता – दोनों का ही प्रतीक है। गोस्वामीजी का जन्म जिस युग में हुआ था, वह कला और साहित्य की दृष्टि से बड़ा समृद्ध युग था। किन्तु आम जनता की स्थिति बड़ी दयनीय थी। वह राज्य कुछ लोगों के लिए कल्याणकारी और उदात्त था, पर आम जनता अभाव-पीड़ा तथा दरिद्रता से संत्रस्त थी। गोस्वामीजी बड़े सहृदय सन्त थे। उन्होंने देश की दरिद्रता को देखा, तो अपनी पद्धति के अनुकूल अनुभव किया कि दरिद्रता के निवारण हेतु हर व्यक्ति प्रयत्न कर ही रहा है, तो मैं भी प्रभु से प्रार्थना करूँ। उन्होंने कवितावली रामायण (९७) की एक कविता में इन दिनों के समाज की दरिद्रता का वर्णन किया है – न तो किसान के पास उपयुक्त खेती है, न व्यापार करनेवाले के लिये उपयुक्त वातावरण है और न ही व्यक्ति को आजीविका चलाने के लिये नौकरी ही मिल पाती है। सब दरिद्रता से व्याकुल हो कर एक दूसरे से यही कहते हैं – इस अभाव को, इस दरिद्रता को मिटाने के लिए हम कहाँ जायें और क्या करें –

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई, का करी ?'

बाह्य अभाव और दरिद्रता एक बड़ी वस्तु है और सन्त की दृष्टि चाहे जितनी उदात्त हो, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह बाह्य अभाव तथा दरिद्रता को कोई महत्त्व ही न दे। उपरोक्त पंक्तियों में वे महत्त्व देते हैं और उसी में उन्होंने भगवान राम से प्रार्थना की कि आप तो रावण का वध करने वाले हैं; आप कृपा करके इस समय समाज में जो दरिद्रता-रूपी रावण है, उसको भी मिटाने के लिए शक्ति दीजिए, कृपा कीजिए। तो कवितावली के उसी पद में उन्होंने दरिद्रता को भी रावण के रूप में देखा – तुलसी आपसे करुण स्वर में प्रार्थना करता है कि कृपया इस दरिद्रता के दशानन को मारिए –

दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु !
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी ।।९७।।

जब व्यक्ति के जीवन में अभाव हो, जब वह भोजन के लिये आकुल हो, उसके पास पहनने के लिए उपयुक्त वस्त्र न हो, तो ऐसी स्थिति में, न वह ऊँची बातें सुनने की और न उन्हें समझने की मन:स्थिति में होता है; और निश्चित रूप से उसके अभाव और दरिद्रता को मिटाने का प्रयत्न होना चाहिए।

पर दूसरी ओर वे एक सूत्र यह भी देते हैं कि यदि अभाव ही समस्त दु:खों या बुराइयों का कारण होता, तो जिनके पास हम समृद्धि या वैभव देखते हैं, बहिरंग दृष्टि से किसी वस्तु का अभाव नहीं देखते, उनके जीवन में जो अपवित्रता, या कदाचार का दिखाई देना यह स्पष्ट कर देता है कि वस्तुत: बाह्य दरिद्रता जीवन का एक पक्ष है, पर साथ-ही-साथ एक दूसरे प्रकार की दरिद्रता भी है। जिनके जीवन में बहिरंग दरिद्रता नहीं भी है, उनमें एक अन्य प्रकार की दरिद्रता है। इस विषय में गोस्वामीजी ने मोह को ही सबसे बड़ी दरिद्रता बताया है –

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा ।। ७/१२०/४

ज्ञान-दीपक के प्रकाश में मोह-दरिद्रता पास नहीं फटकती। भक्तिमणि की उपस्थिति में मोह-दरिद्रता पास नहीं आती।

रामराज्य वह है, जहाँ बहिरंग दरिद्रता या अभाव भी न हो और उसके साथ-साथ मोहजन्य-दरिद्रता – मनुष्य की मानसिक दीनता या दैन्य की वृत्ति, जो सब कुछ पाकर भी अभाव की ही अनुभूति कराती है – उसको मिटाने की भी अपेक्षा है। इस दृष्टि से उन्होंने रामराज्य का सर्वांगीण वर्णन किया है। कभी-कभी आपको ऐसा लग सकता है कि ये बातें बड़ी अव्यावहारिक -सी हैं। यह कैसे सम्भव है। पर ये बातें यदि अव्यावहारिक तथा असम्भव लगती हैं, तो आपके लिये रामराज्य की स्थापना की बात भी असम्भव है। इस कठोर सत्य को स्पष्ट करने में मुझे कोई संकोच नहीं कि जब रामराज्य की स्थापना होगी, तो उसके लिए बड़ी कठिन और समग्र विकास की अपेक्षा होगी।

आज के युग में लोगों के मस्तिष्क को जो प्रश्न उद्वेलित करते हैं, आदरणीय स्वामीजी ने रामराज्य के प्रसंग की प्रस्तुति करते समय उनमें से कुछ प्रश्न हमारे सामने रखे थे। उसमें

एक प्रश्न नारी के सन्दर्भ में था। यह एक संयोग की बात है कि रामराज्य की स्थापना में जो बाधा उत्पन्न हुई, उसमें भी एक नारी की भूमिका है। मन्थरा ने जिन कैकेयी को प्रेरित किया, वे भी नारी हैं। उस प्रसंग में आपको नारी के विषय में कुछ कठोर वाक्य मिलेंगे। वर्तमान युग के सन्दर्भ में यह प्रश्न लोगों के मस्तिष्क में आता है। आज नारी-स्वातंत्र्य की वृत्ति प्रबल है और स्वतंत्रता किसे प्रिय नहीं है? गोस्वामीजी स्वयं यही मानते हैं, जब मैना आँखों में आँसू भरकर विलाप करते हुए पार्वतीजी को विदा करती हैं, तब उन्होंने एक शब्द जो कहा, वह पार्वतीजी के सन्दर्भ में तो यथार्थ नहीं है, लेकिन साधारणतया जीवन में तो वह सत्य ही है। उन्होंने कहा – विधाता ने संसार में स्त्री-जाति को पैदा ही क्यों किया? स्त्री का जीवन पराधीनता का जीवन होता है। और जब तक कोई पराधीन है, तब तक वह कैसे सुखी हो सकता है –

कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं ।
पराधीन सपनेहूँ सुखु नाहीं ।। १/१०२/५

गोस्वामीजी का यह वाक्य स्पष्ट करता है कि उनके सहृदय मन में भी नारी-स्वाधीनता की भावना विद्यमान है। आज के युग में तो स्वतंत्रता की यह वृत्ति और भी प्रबल है। साधारणतया होता यह है कि शरीर के किसी अंग में यदि कहीं चोट लगी हो या फोड़ा हुआ हो और दूसरी बार उसमें थोड़ा-सा भी आघात लग जाय, तो बड़ी तीव्र पीड़ा होती है, यह तो आपने अनुभव किया होगा। वस्तुत: नारी के प्रति जो दुर्व्यवहार या अपमान की वृत्ति कभी समाज में व्याप्त थी, उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह है कि आज भी कुछ लोगों को यह प्रतीत होता है कि यह तो नारी-निन्दा है, या नारी की परतंत्रता का समर्थन है, तब उन्हें अधिक चोट पहुँचती है, या नारी की परतंत्रता का समर्थन है, उन्हें अधिक चोट पहुँचती है। इन चोट लगने को भी हम स्वाभाविक नहीं मानेंगे। आज के युग में यह भावना प्रबल हो गई है और नारी में स्वाभाविक ही बहुत तीव्र रूप में विद्यमान है। पर गोस्वामीजी इसे किस दृष्टि से देखते हैं। मन्थरा नारी है, कैकेयीजी भी नारी हैं और रामराज्य की स्थापना में इन दो नारी पात्रों के कारण बाधा पड़ी। गोस्वामीजी ने एक वाक्य लिखा – स्त्री माया की साक्षात् प्रतिमूर्ति है –

अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ।। ३/४३

परन्तु वह लाक्षणिक सन्दर्भ से जुड़ा हुआ है। गोस्वामीजी के प्रति न्याय करने के लिये या उनकी पंक्तियों को समझने के लिये केवल अनुमान या खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति के स्थान पर धैर्यपूर्वक हम पूरे ग्रन्थ को पढ़े और कुल मिलाकर अनुभव करें कि वस्तुत: लेखक का दृष्टिकोण क्या है? उसके किसी एक पंक्ति के आधार पर हम कोई निष्कर्ष निकालें, तो वह अधूरा होगा। गोस्वामीजी ने इस सन्दर्भ में नारी के लिये निन्दा का एक शब्द चुना। उन्होंने यह प्रसंग एक दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत किया। महाराज श्री दशरथ को उन्होंने एक ऐसे साधक के रूप में देखा, जो रामराज्य की स्थापना के लिए व्यग्र हैं और रामराज्य की स्थापना को यदि वेदान्त की भाषा में कहें, तो वह ब्रह्म-आत्मा-ऐक्य है। भक्तों की भाषा में कहें –तो भगवत्प्राप्ति है। कर्मयोग की दृष्टि से कहें – तो ईश्वर के प्रति कर्मों का समर्पण है। महाराज दशरथ एक योगी हैं, पर मन्थरा ने कैकेयी के अन्त:करण की ममता में वृद्धि कर दी। नारी और पुरुष में कुछ समानता है पर कुछ भिन्नताएँ भी हैं। उन भिन्नताओं की दृष्टि से नारी में भी गुण व दोष हैं और पुरुष में भी गुण-दोष है। जब सारी सृष्टि ही गुण-दोषमयी है, तो फिर यह कहना ही व्यर्थ है कि पुरुष जाति बड़ा गुणवान है, या नारी जाति बड़ी वन्दनीय है। नारी निन्दनीय भी है और वन्दनीय भी। पुरुष वन्दनीय भी है और निन्दनीय भी। परन्तु नारी-पुरुष के स्वभावों में थोड़ी भिन्नता होती है। उस भिन्नता के पीछे जो कारण है, वह समझ लेने योग्य है। अहंता और ममता सभी में विद्यमान है। 'मैं' ही अहंता है और 'मेरा'-पन ममता है। वैसे तो पुरुष में ममता और अहंता दोनों होती हैं, पर उसकी वृत्ति में बहुधा अहंता की मुख्यता दिखाई देती है। नारी की वृत्ति में भी दोनों हैं, पर उसके चित्त में अहंता की अपेक्षा ममता की वृत्ति अधिक प्रबल होती है। क्यों होती है?

पुरुष भले ही सृष्टि के सृजन का कारण हो, पर जिसके माध्यम से संसार का सृजन होता है, हमारा जन्म होता है, वह नारी है। तो यह बड़ी स्वाभाविक-सी बात है कि भले ही चीज दोनों की बनाई हुई हो, पर उस सृजन में पुरुष की अपेक्षा नारी का भाग अधिक है – ऐसा प्रतीत होने के कारण नारी के अन्त:करण में ममता की यह वृत्ति बड़ी प्रबल होती है। पुत्र को देखकर उसके मन की ममता की भावना प्रबल होकर कहती है कि यह मेरा पुत्र है। मेरा पुत्र – कहकर पिता भी पुत्र की ममता से जुड़ा हुआ है, पर पुत्र के सृजन में पिता की उतनी प्रत्यक्ष भूमिका नहीं दिखाई देती, यद्यपि कारण की भूमिका पुरुष की है, तो भी वह पृथक् है।

पुराणों तथा सारे ग्रन्थों में यह परम्परा है – जैसे दैत्य और देवता परस्पर विरोधी हैं, आपसी टकराहट है, पर पुराणकार एक बड़ी अनोखी पद्धति से कहते हैं कि देवता और दैत्यों के पिता एक ही हैं, किन्तु माता अलग-अलग हैं। दैत्य जाति के पिता कोई एक हों और देवताओं के पिता कोई दूसरे हों, तो लगेगा कि दो अलग जातियाँ हैं। पर जब कहते हैं कि महर्षि कश्यप की दो पत्नियाँ हैं – एक दिति और दूसरी अदिति। दिति के गर्भ से दैत्यों का जन्म होता है और अदिति के गर्भ से देवताओं का। इसका क्या अभिप्राय हुआ?

द्वैत-अद्वैत का सूत्र यहाँ भी है। यदि माँ पर दृष्टि डालें, तो द्वैत और पिता पर दृष्टि डालें तो अद्वैत। मूल में अद्वैत तत्त्व रूपी कश्यप हैं। पश्यको एव कश्यप: – जो द्रष्टा है,

वही मूलतत्त्व ब्रह्म कश्यप है। दिखाई देनेवाली इन दो वृत्तियों को गोस्वामीजी ने प्रतीकात्मक रूप से माया के दो भिन्न रूप बताया है। जब लक्ष्मणजी ने भगवान श्रीराम से पूछा – माया क्या है? तो भगवान ने माया की व्याख्या की और कहा कि माया के दो भेद है – एक विद्या और दूसरी अविद्या –

तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
बिद्या अपर अबिद्या दोऊ ।। ३/१५/४

ब्रह्म एक है और माया दो हैं। इसको यों भी कह लीजिए कि यदि ब्रह्म की दृष्टि पर विचार करेंगे, तो अद्वैत का बोध होगा और माया की दृष्टि से विचार करेंगे, तो द्वैत का बोध होगा। ये दिति और अदिति ही मानो विद्या और अविद्या माया हैं। दोनों में ममता की वृत्ति है। पुराणों में – कश्यप से कभी दिति प्रार्थना करते हुए मिलेंगी, तो कभी अदिति प्रार्थना करते हुए मिलेंगी और दोनों यही प्रार्थना करती हैं कि हमारे पुत्र बड़े संकट में हैं; आप उनकी सहायता करें।

ब्रह्म भले ही द्रष्टा के रूप में सबके अन्तराल में, सबके पीछे रहता है, परन्तु सृष्टि का मूल कारण तो माया ही है। भगवान श्रीराम जब मनु के सामने प्रगट होते हैं, तो अकेले नहीं, उनके वामभाग में सीताजी भी सुशोभित हैं। मनु ने तो भगवान राम के दर्शन की प्रार्थना की थी, अत: उन्हें अकेले ही आना चाहिए था। परन्तु मनु ने प्रार्थना की एक की और भगवान दो रूपों में आये। सीताजी को साथ लेकर प्रकट हुए। उसके पीछे उनका उद्देश्य क्या है?

मनु भगवान को संसार में लाना चाहते हैं, तो इसके पीछे उनका उद्देश्य स्वयं संसार से मुक्त होना नहीं है। मुक्ति का अर्थ है कि व्यक्ति जब आवागमन के चक्र से मुक्त होकर, ब्रह्म से मिलकर एकाकार हो जाय। और अवतार का क्या अर्थ है? यह कि ब्रह्म स्वयं ही सृष्टि में अवतरित हो। जब ईश्वर को सृष्टि में बुलाने के लिये प्रार्थना की जा रही थी, तो भगवान अकेले नहीं आए। यहाँ द्वैताद्वैत का, भेदाभेद का बड़ा अद्भुत चित्रण है। अद्वैत तत्त्व दो रूपों में दिखाई दे रहा है। मनु जब सीताजी की ओर ध्यान से देखते हैं, तो भगवान राम कहते हैं – यही वे आदि शक्ति हैं, जिन्होंने संसार का निर्माण किया है, ये मेरी माया हैं और ये भी अवतरित होंगी –

आदि शक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ।। १/१५१/४

भगवान राम का अभिप्राय यह था कि मैं जब माया के राज्य में प्रवेश करूँगा, तो माया का आश्रय लेकर ही स्वयं को मनुष्य के रूप में प्रदर्शित करूँगा – **माया मनुष्यं हरिम्**। वे माया का परिचय देते हैं। उन्होंने भी विद्या-अविद्या के रूप में माया का भेद किया और बताया कि माया का एक रूप वह है, जिसमें वह विद्या माया के रूप में सृष्टि का निर्माण करती है –

एक रचइ जग गुन बस जाकें।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें ।। ३/१४/६

परन्तु विद्या माया यह निर्माण भी कोई अपने बल से नहीं, वस्तुत: प्रभु के बल से ही करती है। जहाँ सृजन होगा, वहाँ द्वैत अवश्य होगा। सृजन का अर्थ ही है कि जहाँ सृष्टि विभिन्न रूपों में दिखाई देती है, अलग-अलग व्यक्तियों के रूप में दिखाई देती है। तो यदि हम केवल विद्या-अविद्या को देखें, तो भिन्नता की अनुभूति होती है। पर विद्या-अविद्या के साथ, दिति और अदिति के पीछे यदि हम द्रष्टारूपी कश्यप का भी दर्शन करते हैं, तो हमें सत्य का साक्षात्कार होता है। यदि इसे सरल भाषा में कहें, तो ये द्वैत के दो रूप हैं। द्वैत का एक रूप वह है, जिसके द्वारा सृष्टि में दुर्गुणों की सृष्टि होती है और अनेकों प्रकार के अनर्थ होते हैं; और द्वैत का दूसरा रूप वह है कि जहाँ केवल व्यवहार के लिए द्वैत को स्वीकार किया गया है, किन्तु अन्त:करण में द्वैत के पीछे अद्वैत-ज्ञान विद्यमान है। विद्या और अविद्या में अन्तर केवल इतना ही है।

नारी की बात कहते हुए गोस्वामीजी ने एक बड़ा विचित्र सूत्र दिया – माया नारी है। पर आप इस बात को भी दृष्टि में रखिए कि जब वे कहते हैं कि वे माया के साथ ही भक्ति को भी नारी ही बताते हैं। वे एक ही पंक्ति में कहते हैं –

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ।
नारि बर्ग जानइ सब कोऊ ।। ७/११६/३

माया और भक्ति – दोनों नारी हैं; मायामयी नारी और भक्तिमयी नारी। मायामयी नारी ही सृष्टि में निन्दनीय है, क्योंकि उसमें दुर्गुण विद्यमान है। माया में भी भेदबुद्धि है और भक्ति में भी भेदबुद्धि है, पर इसमें गूढ़ अर्थ यह है कि दोनों की भिन्नता इस रूप में है कि एक द्वैत बन्धन का हेतु है और दूसरा द्वैत केवल व्यवहार के लिये स्वीकार किया गया भेद है।

इसके लिये एक दृष्टान्त लेते हैं। आप अपने घर में अपने पुत्र को 'बेटा' कहकर पुकारते हैं – यह एक दृश्य है। दूसरे – मान लीजिये नाटक में आप अभिनेता हैं और जो पुत्र के रूप में अभिनय कर रहा है, उसे आप 'बेटा' कहकर पुकारें, तो आपने दोनों को 'बेटा' कहकर पुकारा। घर में भी और नाटक के मंच पर भी। दोनों स्थितियों में आपने अपने व्यवहार में स्नेह प्रगट किया। पर दोनों में कोई भिन्नता है या नहीं? भिन्नता यह है कि नाटक में बेटा कहकर पुकारने के बाद, परदा गिरते ही आप इस बात को बिल्कुल भूल जाते हैं कि यह मेरा पुत्र है। यदि आप उसे सचमुच पुत्र समझने की भूल करें और उसे पितृभक्त बनाने के लिए आकुल हों, तो अभिनेता की इससे बढ़कर मूर्खता नहीं हो सकती। नाटक के समय जब कोई अपने को अभिनेता न मानकर, सोचता है कि यह तो मेरा परिवार है, यह मेरा पुत्र है और ऐसा मानकर जब वह उससे पुत्रवत् व्यवहार करता है, तो केवल व्यवहार में ही नहीं उसके अन्त:करण में भी उसके प्रति आसक्ति होती है,

ममता होती है, पक्षपात होता है। नाट्यमंच पर यह जो ममता और आसक्ति दिखाई देती है, उसमें कोई हानि नहीं है, पर वही ममता और आसक्ति जब हमारे अन्त:करण में आ जाती है, तो सारे अनर्थों का सृजन करती है।

'मानस' में न तो किसी नारी को धन्य-ही-धन्य कहकर उसे केवल स्तुति का पात्र बनाया गया और न यही कहा गया कि नारी केवल निन्दनीय है। गोस्वामीजी बार-बार यही संकेत करते हैं, दृष्टान्त भी अनेक देते हैं। वे कहते हैं कि माया का एक रूप वह है, जो एक नर्तकी का रूप है। और दूसरी ओर भक्ति का परिचय देते हुए कहते हैं –

पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी।
माया खलु नर्तकी बिचारी ।। ७/११६/३-४

यह दृष्टान्त भी समझने योग्य है। एक वेश्या या नर्तकी भी नारी है और पत्नी भी नारी ही है। पर क्या हम दोनों को एक ही श्रेणी में रखते हैं? क्या हम दोनों को एक जैसा महत्त्व देते हैं? वस्तुत: जो लोग रामायण को पूरा न पढ़ कर, बहुत हल्के तौर पर पढ़ते हैं, या पहले से ही मस्तिष्क में यह धारणा बना लेते हैं कि गोस्वामीजी नारीजाति के बड़े विरोधी थे, वे लोग कुछ पंक्तियों को ही पढ़कर ऐसी भूल करते हैं।

वस्तुत: इस प्रसंग में भी गोस्वामीजी ने इस बात की ओर संकेत किया है। महाराज दशरथ के चारों पुत्र अलग-अलग हैं या एक ही हैं? तो भगवान ने कहा – मैं अपने अंशों के साथ मनुष्य के रूप में अवतार लूँगा –

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा।
लेहऊँ दिनकर बंस उदारा ।। १/१८७/२

एक ही ईश्वर के ये चार रूप हैं। पर एक ईश्वर जब चार रूपों में अवतरित होता है, तो वह तीन माताओं के माध्यम से होता है। वे चाहते, तो कौशल्याजी से ही क्रम से चारों पुत्रों का जन्म हो जाता। किसी एक माता के गर्भ से हो जाता। पर एक ही ब्रह्म एक से अनेक रूप में दिखाई पड़ा; और अनेक दिखाई पड़ने के बाद भी उसने कई माताओं का चुनाव किया। गोस्वामीजी ने इसका भी बड़ा तात्त्विक और वैज्ञानिक विवेचन किया है। मन्थरा क्या है? वह अविद्या माया का प्रतीक है –

मैं अरु मोर तोर तैं माया ।। ३/१५/२

मन्थरा अविद्या माया की प्रतीक है, महारानी कैकेयी की ममता को अन्याय के लिये प्रेरित करती है और उसके द्वारा अनर्थ की सृष्टि करती है। यह मन्थरा अयोध्या में विद्यमान है। यह मन्थरा कैकेयीजी को भलीभाँति जानती है। अब तीनों माताओं को तीन रूपों में देखा गया। कौशल्याजी ज्ञानमयी हैं, सुमित्राजी भावनामयी हैं और कैकेयीजी क्रियामयी है –

ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या सुमित्रोपासनात्मिका।
क्रियाशक्तिश्च कैकेयी वेदो दशरथो नृपः ।।

मन्थरा ने न तो सुमित्रा का चुनाव किया और न कौशल्या का; उसने कैकेयीजी को चुना। कैकेयीजी को क्यों चुना? कैकेयीजी क्रिया हैं और क्रिया का सम्पूर्ण आधार भेद ही है। समस्या यही है। जीवन में आप जब भी कोई क्रिया करेंगे, तो जहाँ क्रिया करेंगे, वहाँ भिन्नता होगी। इतने व्यक्ति यहाँ आये हैं, बैठे हैं; पर कुछ श्रोता आगे हैं, कुछ बीच में हैं, कुछ पीछे हैं और कुछ खड़े हुए भी दिखाई दे रहे हैं। क्रिया में तो पग-पग पर भेद दिखाई देता है। जहाँ क्रिया है, वहाँ भेद है।

यदि मन्थरा की दृष्टि इस बात पर होती कि भरतजी और श्रीराम भाई हैं और दोनों दशरथजी के पुत्र हैं, तो चाहे राम को राज्य मिले या भरत को – बात तो एक ही है। आगे चलकर महाराज दशरथ ने कैकेयीजी को इसी प्रकार समझाने की चेष्टा की। उन्होंने कहा – जैसे व्यक्ति की दो आँखें हैं, तो उनमें भी तो द्वैत है। ईश्वर ने भी तो दो आँखें दी हैं – एक बायें और एक दायें। तो क्या कोई व्यक्ति यह सोचता है कि दायीं आँख अच्छी है या बायीं अच्छी है ! हमारी दायीं आँख न फूटे या हमारी बायीं आँख न फूटे। जब आप दो आँखों से देखते हैं, तो दो दिखता है या एक? बड़ी विचित्र बात है। आँखें दो हैं, पर 'एक' को देखने के लिए भी हम दो आँखों का प्रयोग करते हैं। हमारे मन में दोनों आँखों के प्रति समान ममता है, भले ही हम एक को दायीं और दूसरी को बायीं कहते हैं। महाराज दशरथ ने कैकेयीजी से कहा कि राम राजा हो या भरत राजा हो – इसे तुम एक क्यों नहीं समझती? मेरी तो दो आँखें हैं – राम और भरत; मेरे लिए तो दोनों ही समान हैं –

मोरें भरतु रामु दुइ आँखी।
सत्य कहउँ करि संकरु साखी ।। २/३१/६

राम सिंहासन पर बैठे, तो भी मुझे कोई आपत्ति नहीं और भरत बैठे, तो भी कोई आपत्ति नहीं। महाराज श्रीदशरथ के लिये दोनों में कोई अन्तर नहीं है और कौशल्याजी के लिये भी राम और भरत में कोई भेद नहीं है। भरतजी जब ननिहाल से लौटकर आते हैं और कौशल्या अम्बा के चरणों में प्रणाम करते हैं, तो माता कौशल्या के स्तन से दूध क्षरित होने लगता है, वे वात्सल्य भरे हृदय से भरत को गोद में ले लेती हैं और भरत के प्रति रंचमात्र कोई भेद नहीं करती हैं कि मेरा पुत्र वन में चला गया और मेरी सौत कैकेयी का पुत्र राज्य करने के लिये आया है। यहाँ भी अभेद बुद्धि ही दिखाई देती है। जब नारी की निन्दा की जाती है, तो आप उसमें कौशल्याजी को भी गिनेंगे क्या? कौशल्या अम्बा ज्ञानमयी हैं, अत: उनमें ज्ञान का अद्वैत है; और सुमित्रा अम्बा? बड़ी मीठी पद्धति से बड़ी भावनात्मक बात कही गयी है। सुमित्रा अम्बा ने लक्ष्मणजी को उपदेश देते हुए दो बातें कहीं। एक तो वे बोलीं – जब राम ने तुमसे कहा कि माँ से जाकर आज्ञा माँगो, तो तुम्हें यहाँ नहीं आना चाहिए था। तुम्हारी माँ तो वहीं थीं; यदि तुम वहीं सीता अम्बा के चरणों में गिरकर उनसे आज्ञा लेते और वन

चले जाते, तो लगता कि तुमने ठीक किया है। तुम मुझसे आज्ञा माँगने चले आये, यह तुम्हारी भूल है –

तात तुम्हारि मातु बैदेही ।। २/७४/२

वहाँ सुमित्रा अम्बा की दृष्टि में भी अद्वैत है। देह की दृष्टि से देखोगे, तो भिन्नता दिखाई देगी। लक्ष्मण, यदि तुम देह को माता मानोगे, तो तुम्हें अपनी माता में भिन्नता की अनुभूति होगी और उस माता की एक-न-एक दिन मृत्यु होगी। लेकिन चूँकि तुम तो वैदेही के पुत्र हो, अत: अपने आपको देह मत मानो और मुझे देह के नाते मत मानो, देह-दृष्टि से मत देखो कि सुमित्रा मेरी माँ है। इस प्रकार सुमित्रा अम्बा ने लक्ष्मण को विदेह होने का उपदेश दिया, पर आगे चलकर उन्होंने स्वयं के लिये कहा कि लक्ष्मण, तुम जैसा पुत्र पाकर मैं धन्य हो गई। – पुत्र, मेरे साथ ही तुम भी बड़े सौभाग्य के पात्र हुए –

भूरि भाग भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ ।।२/७४

तो सुमित्रा अम्बा क्या स्वीकार करती हैं – भेद या अभेद? देह को स्वीकार करती हैं या नहीं? ज्ञान में देह के मिथ्यात्व का भान है, परन्तु भक्ति में देह के प्रति क्या दृष्टिकोण है? सुमित्रा अम्बा कहती हैं – 'तुम्हारी माँ वैदेही हैं', तो साथ ही यह भी कहना था कि तुम मेरे बेटे नहीं हो। पर सुमित्रा अम्बा कहती हैं – तुम जैसा पुत्र पाकर मैं धन्य हो गई। यदि कोई सुमित्रा अम्बा से पूछे कि ये बातें तो परस्पर-विरोधी हैं, तो वे क्या कहेंगी? यदि लक्ष्मण ने मुझे माता मानने की भूल की और उसके बाद वे राम के साथ वन में जा रहे हैं, तो सारी वस्तुओं को छोड़कर जायें। पर बड़ी समस्या यह है कि व्यक्ति वस्तु को तो छोड़ देता है, पर छूटी हुई वस्तु की याद नहीं छूटती। इस याद को छोड़ना बड़ा कठिन है। व्यक्ति की स्मृति में बनी रहती है कि मैंने इन-इन वस्तुओं को छोड़ा है।

सुमित्रा अम्बा ने सोचा कि लक्ष्मण यदि समझेगा कि मैं देह नहीं हूँ और मेरी माँ वैदेही है, तो उसे वन में लगेगा कि मैं माता-पिता के साथ में हूँ। और यदि मुझे माता मान लिया, तो उसके मन में जरूर आयेगा कि मैंने राम के लिए अपने माता-पिता को छोड़ दिया है। लोग तो ऐसा ही कहते दीख पड़ते हैं। पर सुमित्रा अम्बा ने लक्ष्मण को एक सूत्र दिया – देखो, तुम्हारा कल्याण यही मानने में है कि संसार में जितने भी पूजनीय और प्रिय लोग हैं, वे सब श्रीराम के नाते से ही हैं –

पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें ।
सब मानिअहिं राम के नातें ।। २/७४/७

सूत्र यह है कि हमारा केन्द्र शरीर नहीं, अपितु श्रीराम हैं। उनका अभिप्राय यह था कि यदि तुम मुझसे नाता मानोगे, तो मेरे नाते तुम्हें संसार की याद आयेगी। परन्तु मैं तो यह नाता मानूँगी कि तुम मेरे बेटे हो और ध्यान करूँगी कि मेरा बेटा राम के चरणों की सेवा कर रहा है, तो मुझे राम के चरणों की याद आएगी। तुम्हारे नाते से मुझे राम के चरणों की स्मृति बनी रहेगी। इसके लिए उन्होंने दृष्टान्त बड़ा सुन्दर चुना – जैसे किसी को एक पात्र में दूध दिया गया, तो पीनेवाला दूध ही पीयेगा, पर दूध उसे किसी-न-किसी बर्तन में रखकर ही तो दिया जायगा। अब सामनेवाला भले ही केवल होठ और दूध का स्पर्श चाहता हो, पर होठ से उस पात्र का स्पर्श हुए बिना दूध का स्पर्श कैसे होगा! सुमित्रा अम्बा ने कहा – लक्ष्मण, वस्तुत: तुम पुत्र तो उन्हीं के हो, परन्तु बर्तन के रूप में मेरा भी तो कुछ अधिकार है। कम-से-कम श्रीराम तो इसे स्वीकार करेंगे ही कि सुमित्रा अम्बा ने अपना पुत्र दिया है। मैं भले ही तुम्हारी माँ न होऊँ, पर बर्तन तो हूँ न –

भूरि भाग भाजन भयउँ ... ।।

इसमें जो स्वीकृति है, उसमें भी मेरापन है। पर इस मेरेपन को कैसे श्रीराम से जोड़ दिया गया और राम की स्मृति में सन्निहित कर दिया गया! इतना ही नहीं जब लंका-विजय के उपरान्त भगवान राम सीताजी और लक्ष्मण के साथ लौटकर आये, तब लक्ष्मणजी ने सुमित्रा अम्बा को प्रणाम किया और सुमित्रा अम्बा ने लक्ष्मण को हृदय से लगाया, तो अलग ही नहीं कर रही हैं। देखने वालों को लगा कि कुछ भी क्यों न हो, माँ तो माँ ही होती है। माँ ने भले ही अपने पुत्र को वन भेज दिया था, मगर देखो, लक्ष्मण को अपने हृदय से अलग नहीं कर पा रही है। यहाँ गोस्वामीजी को बताना पड़ा – नहीं, दिखाई तो देता है कि जैसे माँ अपने बेटे को हृदय से लगाकर अलग नहीं करना चाहती, वैसे ही वे भी लक्ष्मणजी को अपने हृदय से अलग नहीं करना चाहतीं। पर वस्तुत: उनकी भावना क्या है? सुमित्रा अम्बा श्रीराम को साक्षात् ईश्वर मानती है और व्यावहारिक अर्थों में वे माँ हैं। यह एक विपरीत स्थिति है। वे ईश्वर के रूप में श्रीराम के चरणों की पूजा करना चाहती हैं और व्यवहार में वे श्रीराम से अपना चरण छुलाती हैं। माँ यदि चाहे भी कि मैं राम के चरण छूऊँ, तो न श्रीराम छूने देंगे और न यह मर्यादा के अनुकूल ही होगा। तो सुमित्रा अम्बा ने जब लक्ष्मण को देखा, तो उन्हें याद आ गया कि लक्ष्मण यदि रात में सोते भी हैं, तो प्रभु के चरणों को अपने हृदय में रखकर सोते हैं। और जब उन्होंने लक्ष्मण को हृदय से लगाया, तो उन्हें लगा कि भले ही मैंने राम के चरणों का स्पर्श न किया हो, पर जिस हृदय में राम के चरणों का नित्य स्पर्श होता रहता है, उसे हृदय से लगाकर प्रभु के चरणों के स्पर्श का आनन्द पा रही हूँ। यह बेटे को हृदय से लगाने का आनन्द नहीं था। गोस्वामीजी कहते हैं – सुमित्राजी अपने पुत्र की श्रीराम के चरणों में प्रीति जानकर उनसे मिलीं –

भेटेउ तनय सुमित्राँ राम चरन रति जानि ।। ७/ ६ क

लक्ष्मणजी को हृदय में लगाने में सुमित्राजी को प्रभु भी दिखाई दे रहे हैं और ममता भी दिखाई दे रही है, पर यह ममता ईश्वर से जुड़ी हुई है। ❖ **(क्रमश:)** ❖

कर्तव्य-बोध

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

'बोध' एक ऐसा शब्द है, जो मनुष्य के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है। पशु में बोध नहीं होता। आप कह सकते हैं कि पशु को ज्ञान होते देखा गया है। यह सच है, पर ज्ञान और बोध में अन्तर है। एक पश्चिमी विद्वान् ने पशु और मनुष्य का अन्तर बताते हुए कहा है – A man knows and an animal knows, but an animal does not know that he knows, while a man knows that he knows. अर्थात् जैसे मनुष्य जानता है, वैसे ही पशु भी जानता है, परन्तु पशु यह नहीं जानता कि वह जानता है, जबकि मनुष्य जानता है कि वह जानता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को अपने ज्ञान का बोध होता है, जबकि पशु को ऐसा नहीं होता। मनुष्य की यही क्षमता उसे पशु से भिन्न करती है। एक संस्कृत सुभाषित में मनुष्य और पशु के इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है –

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मैव तेषामधिको विशेषः
तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः ।।

– "भोजन, नींद, भय और प्रजनन की प्रवृत्तियाँ – पशुओं तथा मनुष्यों में समान रूप से पायी जाती हैं। एक धर्म का तत्त्व मनुष्यों में अधिक होता है, वह यदि मनुष्य में न हो, तो वह पशु के समान है।"

इस सुभाषित में धर्म को मनुष्य और पशु में अन्तर करनेवाला तत्त्व बतलाया गया है। इस धर्म को कर्तव्य-बोध भी कहते हैं। तात्पर्य यह कि धर्म वह है, जो मनुष्य में कर्तव्य-बोध भरता है। पशु में कोई कर्तव्य-बोध नहीं होता, वह अपनी सहज प्रेरणा से परिचालित होता है। एक स्वामिभक्त कुत्ता जब अपने स्वामी की रक्षा करने के लिए चोर पर झपट पड़ता है, तो वह कर्तव्य-बोध से प्रेरित हो ऐसा नहीं करता, अपितु अपनी सहज प्रेरणा से परिचालित होकर ऐसा करता है, जिसे हम अंग्रेजी में instinct कहते हैं। कर्तव्य-बोध की क्षमता मनुष्य में ही होती है। इसीलिए जैसे वह पुरस्कार पाने का अधिकारी होता है, वैसे ही दण्ड पाने का भी; जबकि कभी किसी ने अपने मालिक को बचानेवाले कुत्ते को पुरस्कार देकर सम्मानित नहीं किया।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि हमें अपने कर्तव्य का पालन क्यों करना चाहिए। इसलिए करना चाहिए कि यही मनुष्य की मनुष्यता को उजागर करता है। वैसे तो पशुभाव केवल पशु का गुण नहीं, वह मनुष्य में भी होता है, पर मानव-जीवन की सार्थकता इसमें है कि वह अपने भीतर का पशु-भाव दूर करके मानवता को जगाए। इस प्रक्रिया में कर्तव्य-बोध एक सक्षम साधन के रूप में हमारे सामने आता है, जिसे पूर्व में कहे गये सुभाषित में 'धर्म' कहकर पुकारा गया है।

अपने स्वार्थ के लिए जीना पशुता है और दूसरों के लिए जीने की चेष्टा करना मनुष्यता की अभिव्यक्ति है। यदि मनुष्य भी केवल अपने लिए जिये, तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं। कर्तव्य-बोध हमें दूसरों के लिए जीना सिखाता है। अधिकार-बोध यदि स्वार्थ का द्योतक है, तो कर्तव्य-बोध निःस्वार्थता का। मैसूर के महाराजा के पत्र के उत्तर में स्वामी विवेकानन्द ने जो लिखा था, उसकी कुछ पंक्तियाँ यों हैं – "मनुष्य अल्पायु है और संसार की सब वस्तुएँ वृथा तथा क्षणभंगुर हैं; पर वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं; शेष सब तो जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं।"

कर्तव्य-बोध परिवार, समाज और देश को टूटकर बिखरने से बचाता है। कल्पना कीजिए कि माता, पिता, पुत्र, पुत्री, शिक्षक, विद्यार्थी, अधिकारी, कर्मचारी, व्यवसायी, किसान, मजदूर – सब अपने अपने कर्तव्यों से कतराने लगें। इससे कैसी विशृंखलता की सृष्टि होगी, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मैं यदि अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, तो मुझे किसी से यह कहने का अधिकार नहीं है कि तुम अपने कर्तव्य का पालन क्यों नहीं कर रहे हो? यदि पति अपनी पत्नी के प्रति अपने कर्तव्य को न निभाये, तो उसे पत्नी से यह कहने का अधिकार नहीं बनता कि तुम अपना कर्तव्य नहीं निभा रही हो।

सारांश यह कि कर्तव्य-बोध ही जीवन की धुरी है। वह हमारी मनुष्यता को प्रकट करके हमें सही अर्थों में मनुष्य बनने की राह पर ले जाता है। जिस परिवार, जिस समाज और जिस देश में जितनी संख्या में ऐसे कर्तव्य-बोध से भरे हुए मनुष्य होते हैं, वह परिवार, वह समाज और वह देश उतनी मात्रा में बलवान, सम्पन्न और सुदृढ़ होता है। ❑❑❑

गोपाल की माँ

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

यह सन् १८८५[१] की वसन्त ऋतु की घटना है। एक दिन खूब तड़के एक वृद्धा ब्राह्मणी अपने कमरे में बैठी गंगाजी का दर्शन करती हुई माला जप रही थीं। तभी वे श्रीरामकृष्ण को बालगोपाल की दाहिने हाथ की आधी बँधी मुट्ठीवाली मुद्रा में देखकर चकित रह गयी। भावविभोर होकर उन्होंने देखा कि बालगोपाल अपनी मोहिनी चितवन से उनकी ओर देखता हुआ मुस्कुरा रहा है। उन्होंने ज्योंही उसकी मुट्ठी पकड़नी चाही, श्रीरामकृष्ण की मूर्ति अन्तर्धान हो गयी और उसमें से लगभग दस माह का एक जीता-जागता शिशु प्रकट हुआ। बड़े आश्चर्य की बात – वह शिशु घुटने के बल चलते हुए अपनी दाहिनी मुट्ठी आगे करके उस वृद्धा की ओर बढ़ते हुए बोला, "मैया, मुझे माखन दो न!" वृद्धा आनन्द से चिल्ला पड़ी, पर जल्द ही शान्त होकर – मक्खन या मलाई नहीं खिला पाने का खेद प्रकट करने लगी। पर शिशु शान्त नहीं हुआ। वह बारम्बार कुछ खाने को माँगने लगा। कोई चारा न देख, उनके पास जो थोड़े-बहुत नारियल के लड्डू थे, वृद्धा ने उन्हें छींके से निकाले और उसे खाने को दे दिया। गोपाल खुश हो उठा और बड़े चाव से खाने लगा। यद्यपि वृद्धा ने गोपाल को कुछ समय के लिए शान्त कर दिया था, पर उस दिन की उसकी नित्य की पूजा-साधना धरी रह गयी, क्योंकि नटवर गोपाल कभी उसके कन्धे पर चढ़ जाता, तो कभी गोद में बैठ जप-माला खींच लेता और फिर झट से उतर कर कमरे में चारों ओर उछल-कूद मचाने लगता। इस अपूर्व दर्शन ने वृद्धा को भावविह्वल कर दिया। जैसे ही दिन निकला, वे यथाशीघ्र दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर की ओर चल पड़ी। उन्होंने बालगोपाल को अपनी छाती से लगा रखा था, उसका सिर वृद्धा के कन्धों पर टिका था और दोनों सुकुमार चरण-कमल वक्षस्थल पर झूल रहे थे। श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रविष्ट होते ही वृद्धा 'गोपाल! गोपाल!' कहकर पुकारने लगीं। वे भगवान की बालगोपाल मूर्ति के रूप में श्रीरामकृष्ण को पूजती थीं। उनका भाव माता यशोदा के समान था।

वे उन्मत्त-सी दिखती हुई भावावस्था में वहाँ पहुँची थीं। उनके केश बिखरे हुए थे, साड़ी का छोर जमीन पर घिसटता चल रहा था। उस समय गोलाप-माँ[२] श्रीरामकृष्ण का कमरा साफ कर रही थीं। पर उनकी ओर कोई ध्यान न देते हुए वे सीधे जाकर श्रीरामकृष्ण के पास बैठ गयीं। ४८ वर्षीय श्रीरामकृष्ण भी भावस्थ होकर आये और उनकी गोद में बैठ गये। वृद्धा अपने साथ लायी चीजें श्रीरामकृष्ण को खिलाने लगीं; उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु झरने लगे। थोड़ी ही देर में श्रीरामकृष्ण सहज अवस्था में आ गये और वे उठकर अपनी छोटी खाट पर जा बैठे। दूसरी ओर आनन्दमग्न वृद्धा नाचने और गाने लगीं – 'ब्रह्मा नाचे, विष्णु नाचे' आदि। जैसे ही उनका भाव कुछ संवरित हुआ, वे कहने लगीं कि बालगोपाल उसके और श्रीरामकृष्ण के बीच में खेल रहा है, कभी श्रीरामकृष्ण की देह में प्रविष्ट हो जाता है तो कभी उनकी स्वयं की गोद में बैठकर उनके साथ खेलने लगता है। उनका यह दिव्य भाव काफी देर तक बना रहा। श्रीरामकृष्ण ने उनकी आध्यात्मिक उपलब्धि की प्रशंसा की और उन्हें भरपेट भोजन कराया। अपराह्न में उनके कामारहाटी लौटने से पूर्व तक श्रीरामकृष्ण ने उनके भाव को कुछ-कुछ शान्त कर दिया था। उस दिन से श्रीरामकृष्ण उन्हें 'गोपाल-की-माँ' कहकर सम्बोधित करने लगे।

यह दिव्य दर्शन पाने के कुछ महीने पूर्व ही अघोरमणि नामक इस धर्मनिष्ठ ब्राह्मणी ने पहली बार दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण का दर्शन किया था। १८८४ का नवम्बर-दिसम्बर का महीना रहा होगा। अघोरमणि की आयु तब साठ से ऊपर थी। वे तीन मील दूर स्थित कामारहाटी से नाव द्वारा दक्षिणेश्वर आयी थीं। मकान-मालिक गोविन्दचन्द्र दत्त की विधवा और कामिनी नामक एक दूर की रिश्तेदार भी उसके साथ थी। अघोरमणि का विवाह नौ वर्ष की आयु में २४ परगना के पाइघाटा, बोदरा गाँव के एक परिवार में हुआ था। कम आयु में ही विधवा हो जाने पर अघोरमणि ने अपने स्वभाव के अनुकूल स्वयं को पूरी तौर से साधना में समर्पित कर दिया था, क्योंकि बचपन से ही वह शान्त स्वभाव तथा आध्यात्मिक

१. स्वामी सारदानन्द ने 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भाग २, सं. २००८, पृ. ७०३-४ में लिखा है, "१८८५ ई. के चैत्र या वैशाख महीने में दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्णदेव के पास जब हमने उन्हें प्रथम देखा था, तब प्राय: छ: महीने से वे उनके निकट सम्पर्क में थीं।" १८८४ के नवम्बर-दिसम्बर में पहली बार उन्होंने श्रीरामकृष्ण के दर्शन किये थे। स्वामी रामकृष्णानन्द की उक्तियों के आधार पर भगिनी देवमाता १८८४ को इस भेंट का वर्ष मानती हैं। अत: यह घटना मार्च-अप्रैल १८८५ की हुई, न कि १८८४ की, जैसा कि 'लीलाप्रसंग' के पृ.७१० पर कहा गया है।

२. गोलाप-माँ श्रीरामकृष्ण देव की शिष्या थीं, जो बाद में श्रीमाँ सारदा की संगिनी बनकर उनके उद्बोधन वाले भवन में रहती थीं।

वृत्ति से युक्त थी। नियमित धार्मिक आचारों और कठोर संयम के साथ वे वात्सल्य भाव का सहारा लेकर बालगोपाल की भक्ति करते हुए एक नैष्ठिक विधवा ब्राह्मणी का जीवन बिता रही थीं। इस भाव में भगवान – एक दिव्य शिशु के रूप में भक्त पर वैसे ही पूरी तौर से आश्रित रहते हैं, जैसे एक छोटा शिशु अपने माँ-बाप पर। 'गोपाल'-मन्त्र में दीक्षित हो उन्होंने धीरे-धीरे ईश्वर को अपने पुत्र-जैसा प्रेम करना सीख लिया। इससे उनका स्वयं का मातृत्व भी तृप्त हो रहा था। वे गोपाल के लिए रसोई बनाती, उसे नहलाती, खिलाती और उसके साथ खेलती। बालगोपाल की नित्यपूजा में वे इतनी मग्न रहतीं कि उन्हें अपने अभावों की सुध तक न आती। इस प्रकार धीरे-धीरे उनके चित्त में भगवान के लिए निष्काम प्रेम अंकुरित होने लगा। उसका एक निष्ठावान् ब्राह्मणी का जीवन धार्मिक आचार, संयम तथा ब्रह्मचर्य से युक्त था। गोविन्दचन्द्र दत्त के यहाँ बने मन्दिर के पुजारी नीलमाधव बनर्जी की बहन होने के नाते वे उस दत्त-परिवार से, विशेषकर गोविन्दचन्द्र दत्त की विधवा से भलीभाँति परिचित थी। उस मन्दिरवाले बगीचे के दक्षिणी छोर पर एक छोटे-से कमरे में उनको आश्रय मिला था। श्रीरामकृष्णदेव के दर्शन से पूर्व ईश्वर-दर्शन की लालसा लिये उन्होंने अपने जीवन के दीर्घ तीस वर्ष इस कमरे में बिता दिये थे। उन्हें बड़ा अभावपूर्ण[३] जीवन बिताना पड़ा था, यहाँ तक कि कई बार तो उन्हें तकली से यज्ञोपवीत बनाकर उसे बेचकर अपने खाने-पहनने की व्यवस्था करनी पड़ती। पर बड़ा-से-बड़ा कष्ट भी उन्हें उनकी नियमित साधना से विरत नहीं कर सका था। वे घण्टे-पर-घण्टे, दिन-पर-दिन और कई बार तो लगातार दिन-रात अपनी माला जपने में डूबी रहतीं। श्रीरामकृष्ण के एक जीवनीकार लिखते हैं, "कहीं जप न टूटे, इसलिए वे बायें हाथ से खाना पकातीं और दाहिने हाथ से माला पर उसका जप चलता रहता।"[४] इन दीर्घ एकाकी वर्षों में उनके स्नेहिल मातृहृदय की करुणा और कोमलता, पीड़ा तथा भाव ही उनके एकमात्र संगी थे। उनकी तीस वर्षों तक लगातार प्रभु-दर्शन की यह लालसा देखकर बरबस ही रामायण में वर्णित शबरी का स्मरण हो आता है।

जहाँ तक उनकी व्यक्तिगत दिनचर्या का प्रश्न है, उनकी इन दिनों की चर्या तथा १८९८ में जब भगिनी निवेदिता उससे मिलने गयी थीं, तब की चर्या में कोई विशेष अन्तर नहीं था। भगिनी निवेदिता लिखती हैं, "नदी के तट पर जल से निकलती हुई सीढ़ियों की लम्बी कतार कितनी सुन्दर दिख रही थी, जो विशाल घाट से ऊपर की लॉन में से होकर लता-गुल्मों से ढके दाहिने ओर के बरामदे की ओर ले जातीं, जहाँ एक छोटे से कमरे में, जो सम्भवत: उस भवन के किसी सेवक के लिए बना था, गोपाल की माँ कितने सालों से अपनी जप-माला पर जप करती हुई रह रही थीं। उनका वह छोटा-सा कमरा सुख-सुविधाओं से पूर्णत: विहीन था। उनका बैठना-सोना कमरे की फर्श पर ही होता। किसी के आने पर बैठने के लिए वे आसन बिछा देतीं, जो ऊपर आले में लपेटकर रखी रहती। मुट्ठी भर मुरमुरा और कुछ बताशे ही उनका एकमात्र भण्डार था, जिससे वे अतिथियों का स्वागत करतीं; और यह भण्डार एक छोटी-सी मटकी में छींके से लटकता रहता। परन्तु कमरा खूब साफ-सुथरा था। वे स्वयं गंगाजी से जल लाकर कमरे को बार-बार धोतीं। हाथ की पहुँच के पास आले में रामायण की एक पुरानी प्रति रखी रहती थी।"[५]

उस समय तक श्रीरामकृष्ण कलकत्ते और आसपास के क्षेत्र में एक सुपरिचित सन्त बन चुके थे। एक निर्धन निष्ठावान् ब्राह्मण परिवार में जन्मे श्रीरामकृष्ण को औपचारिक शिक्षा और पौरोहित्य के कार्य से अरुचि थी। पर संयोग ऐसा हुआ कि उन्हें दक्षिणेश्वर के मन्दिर में प्राय: छह महीने पुजारी का काम करना पड़ा। उसके शीघ्र बाद ही दिव्य पथ की उनकी दुष्कर यात्रा शुरू हुई। ईश्वर के प्रति उनका शिशुवत् निश्चल विश्वास, प्रभु-इच्छा को पूर्ण समर्पण, सर्वस्व-त्याग तथा चरित्र की पवित्रता के कारण वे तीव्र वेग से दिव्य अनुभूतियों की ओर अग्रसर हुए। ईश्वर के अस्तित्व की सत्यता को हिन्दू धर्म तथा अन्य धर्मों के विभिन्न मार्गों द्वारा प्रमाणित कर उन्होंने ऐसी अनुभूति हासिल की, जो सम्भवत: अब तक अन्य किसी भी सन्त या महापुरुष को प्राप्त नहीं हुई थी। उनका जीवन पूर्णत: त्यागमय था, तथापि वे परम्परागत हिन्दू तपस्वी-जैसे नहीं थे, क्योंकि उनके हृदय में मानवमात्र के लिए गहरी प्रीति और करुणा थी। भक्तों की संगति में उन्हें विशेष आनन्द मिलता। वास्तव में वे सदा सच्चे भक्तों को खोजते रहते। वे स्वयं उच्चतम कोटि के भगवद्भक्त थे तथा वैष्णवों द्वारा प्रतिपादित हर भाव से, जिसमें वात्सल्य भाव भी था, उन्होंने ईश्वर की उपलब्धि की थी। अष्टधातु से बनी बालक-राम की मूर्ति रामलला के प्रति उनकी अनुभूतियों में भक्त का ईश्वर के प्रति प्रेम और ईश्वर का भक्त के प्रेम में बँधकर उसके साथ लीला करने का अद्भुत दृष्टान्त दिखायी देता है।

गोविन्द दत्त की विधवा और अघोरमणि दोनों परमहंस श्रीरामकृष्ण के बारे में सुनकर, उनके दर्शनों के लिए उत्सुक

३. अपने स्वर्गीय पति की भू-सम्पत्ति बेचकर उन्हें ३०० रुपये मिले थे, जिस पर ब्याज के रूप में उन्हें प्रतिमाह ३ रुपये प्राप्त होते थे। (द्रष्टव्य – बँगला में स्वामी निर्लेपानन्द कृत 'रामकृष्ण-सारदामृत' पृ. ४६, ४९; और 'उद्‌बोधन' बँगला पत्रिका, आश्विन, बंगाब्द १३४६, पृ. ५६७)

४. बैकुण्ठनाथ सान्याल : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-लीलामृत' (बँगला), कलकत्ता, बसुमती साहित्य मन्दिर, पृ. ३६६

५. भगिनी निवेदिता : 'द मास्टर ऐज आइ सा हिम', उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता, १० वाँ संस्करण, पृ. १४८-४९

थीं। वस्तुत: एक दिन दोपहर में वे दोनों अपनी अन्तरात्मा की आवाज[६] पर नौका द्वारा दक्षिणेश्वर के लिए चल पड़ी थीं। श्रीरामकृष्ण मानो उन लोगों की प्रतीक्षा करते हुए अपने कमरे के बाहर दरवाजे पर खड़े थे। उन्होंने उन दोनों का स्वागत किया और उन्हें अपने कमरे में बैठाया। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें साधना-विषयक उपदेश दिये और बताया कि जीवन में भगवान से प्रीति होना ही एकमात्र सार वस्तु है। उन्होंने कुछ भजन भी गाकर सुनाये तथा उन्हें कुछ मिठाई खाने को दी। अघोरमणि आचारवान ब्राह्मणी थीं, अत: उन्होंने उसे नहीं खाया, क्योंकि श्रीरामकृष्ण केवट जाति की रानी रासमणि द्वारा निर्मित दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर के पुजारी रह चुके थे। उन्होंने मिठाई दूसरे को दे दी।[७] यह बात श्रीरामकृष्ण की निगाहों से नहीं चूकी।

श्रीरामकृष्ण ने सहज ही आगन्तुक महिलाओं के आध्यात्मिक स्तर को, विशेषकर उनकी उच्च भक्तिभावना को जान लिया था। बाद में उन्होंने गोविन्द दत्त की विधवा और अघोरमणि के बारे में कहा था, "अहा, उनके चेहरे पर क्या अपूर्व भाव है – मानो भक्ति-प्रेम में वे तैर रही हैं। कैसे प्रेम से भरे हुए नेत्र हैं ! नाक पर लगा तिलक तक कितना सुन्दर है !"[८] वास्तव में उनकी चाल-ढाल, वेशभूषा आदि में उनके भीतर का भक्तिभाव ही प्रकट हो रहा था। श्रीरामकृष्ण की बातों और व्यवहार ने अनजाने ही उन लोगों का हृदय जीत लिया। श्रीरामकृष्ण ने अपनी अनोखी प्रेमपूर्ण रीति से उनसे दक्षिणेश्वर पुन: आने को कहकर उन्हें विदा दी। गोविन्द दत्त की विधवा ने ठाकुर को एक बार अपने कामारहाटीवाले मन्दिर में पधारने का अनुरोध किया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

उसी दिन की एक रोचक घटना को स्वामी रामकृष्णानन्द से सुनकर भगिनी देवमाता ने लिखा है। अघोरमणि अपने साथ एक छोटी-सी पोटली में थोड़ा-सा चावल, दाल और सब्जी लेकर आयी थीं, जबकि उनके साथ के लोग अच्छे-अच्छे, फल-फूल और मिठाई आदि लाये थे। श्रीरामकृष्ण जब उनके पास आकर बैठ गये और बोले, "तुम आयी हो, मेरे लिए क्या लायी हो, दो।"[९] तो अघोरमणि बड़ी संकुचित हो उठीं। दीन-निर्धन ब्राह्मणी अपने साथ लायी चीजों की बात सोचकर लज्जा से गड़ गयीं। परन्तु श्रीरामकृष्ण छोड़नेवाले नहीं थे। उन्होंने उस छोटी पोटली की ओर इशारा किया। ब्राह्मणी ने झिझकते हुए उसे खोला। श्रीरामकृष्ण ने उसे पकाकर खिलाने के लिए कहा और उन्हें रसोईघर दिखा दिया। बचने का कोई उपाय न देख ब्राह्मणी ने उसे पकाया। जब उन्होंने वह सादा भोजन श्रीरामकृष्ण के सामने परोसा, तो श्रीरामकृष्ण ने उनसे अपने हाथों से खिलाने को कहा। "उन्होंने दाल-भात-साग मिलाकर जब पहला कौर श्रीरामकृष्ण के मुख में डाला, तो उन्हें उनमें अपना गोपाल नजर आया।"[१०] श्रीरामकृष्ण ने उस भोजन को बड़े चाव से खाया। बार-बार उनके पकाने की प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि इसमें सचमुच अमृत का स्वाद है। ब्राह्मणी आनन्दित हो उठीं तथा भीतर की संचित दु:खराशि उड़ गयी।

अघोरमणि अत्यन्त प्रभावित होकर घर लौटीं, पर सम्भवत: वे यह अनुमान न कर पायी थीं कि प्रभाव की गहराई कितनी थी। उन्हें तब ऐसा लगा था कि श्रीरामकृष्ण एक अच्छे साधु हैं, बस इतना ही। परन्तु इसके कुछ दिन बाद ही जब वे माला जपने बैठीं, तो उनके भीतर से इस सन्त के दर्शनार्थ जाने की अदम्य इच्छा उठने लगी। यह सोचकर कि सन्तों के दर्शनार्थ खाली हाथ नहीं जाना चाहिए, उन्होंने दो पैसे की सामान्य-सी मिठाई खरीदी और दूसरी बार दक्षिणेश्वर आ पहुँचीं। उन्हें देखते ही श्रीरामकृष्ण कह उठे, "तुम आयी हो, मेरे लिए क्या लायी हो, दो।"[११] उन्होंने विस्मय से देखा कि श्रीरामकृष्ण उनकी दी हुई चीजें बड़े चाव से खा रहे हैं। उनके सामने श्रीरामकृष्ण का भाव वैसा ही हो जाता, जैसे एक छोटा बच्चा अपनी माँ के सामने हो जाता है। वे ब्राह्मणी से बार-बार कहने लगे कि वे हाथ से ही बनाकर लाया करें, चाहे वह सब कितना ही सादा क्यों न हो।

श्रीरामकृष्ण उन्हें 'कामारहाटी की ब्राह्मणी' कहा करते थे। वे यह सब देखकर अचरज में पड़कर सोचने लगीं कि ये कैसे साधु हैं, जो धर्म-कर्म के बारे में कुछ न कह सिर्फ खाने की ही बात करते हैं। उन्होंने सोचा कि अब वे फिर उनके दर्शन के लिए नहीं आएँगी। पर भीतर कोई अदम्य आकर्षण उन्हें खींचकर शीघ्र दक्षिणेश्वर ले आया। उस दिन वे एक कटोरी में कोई सब्जी बनाकर लायी थीं। श्रीरामकृष्ण ने उसे खाया

६. अघोरमणि की आकुलता दिखाने के लिए भगिनी देवमाता एक घटना का वर्णन करती हैं, जो उन्होंने स्वामी रामकृष्णानन्द से सुनी थी। एक दिन अघोरमणि ने अपने इष्ट गोपाल के लिए बड़ी कठिनाई से प्रसाद बनाया, क्योंकि जलाऊ लकड़ी भीगी हुई थी और मौसम भी तूफानी था। जब पत्ते पर प्रसाद निकालने ही वाली थी कि हवा के कारण पत्ता उड़ गया। नाराज होकर जब वे गोपाल को कोसने लगीं, तब कहीं से एक छोटा बालक पत्ता उठा लाया और पत्ते पर प्रसाद डालने में उनकी मदद करने लगा और फिर चला गया। थोड़ी देर बाद उन्हें लगा कि शायद गोपाल ही बालक के रूप में आया था, तब उनके दु:ख का ठिकाना न रहा। उनके परिचितों ने उन्हें सान्त्वना दिलाने की दृष्टि से श्रीरामकृष्ण के दर्शन हेतु दक्षिणेश्वर चलने को कहा। वे एकदम राजी हो गयीं। देखें – भगिनी देवमाता : 'श्रीरामकृष्ण ऐंड हिज डिसाइपल्स', ला क्रेसेन्टा, अमेरिका, आनन्द आश्रम, १९२८, पृ. ११२-१३; **७**. अक्षय कुमार सेन : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' (बँगला), उद्बोधन, कलकत्ता, ५ वाँ संस्करण, पृ. ३०; **८**. 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भाग २, सं. २००८, पृ. ७०५

९. वही, पृ. ७०८ ; **१०**. 'श्रीरामकृष्ण ऐण्ड हिज डिसाइपल्स', पृ. ११३; **११**. वही, पृ. ११४

और खूब प्रशंसा करते हुए कहने लगे, "अहा, कैसा उत्तम बना है, मानो अमृत हो!"[१२] सुनकर ब्राह्मणी की आँखें खुशी से डबडबा आयीं। वे हृदय में छलकता आनन्द ले घर लौटीं। साधु का आकर्षण धीरे-धीरे उन पर अपनी पकड़ बनाता जा रहा था; और उनकी दक्षिणेश्वर-यात्रा भी अब बार-बार होने लगी। वे हमेशा साथ में कुछ-न-कुछ पकाकर ले आतीं। वे जो कुछ भी लातीं, श्रीरामकृष्ण उसे बड़ी तृप्ति से खाते। पर वे और लाने की माँग करते रहते। इससे घबड़ाकर वे कभी-कभी सोचतीं, "गोपाल, तुम्हें पुकारकर मुझे आखिर यही फल मिला? तुम मुझे ऐसे साधु के पास ले आये, जो केवल खाना ही माँगता रहता है! अब मैं यहाँ नहीं आऊँगी।"[१३] पर अपनी पूरी चेष्टा के बावजूद वे श्रीरामकृष्ण के प्रति अपने प्रबल आकर्षण को दूर न कर सकीं तथा उससे खिंचकर अधिकाधिक दक्षिणेश्वर आने लगीं। उनमें भगवान के प्रति प्रेम बहुत गहराई तक भिदा हुआ था। वात्सल्य-भाव उनके स्वभाव में ही था, इसलिए ठाकुर को खिलाने में उन्हें खूब आनन्द आता। ईश्वर-तत्त्व आदि के बारे में वे ज्यादा नहीं सोचतीं।[१४] श्रीरामकृष्ण में गोपाल-दर्शन के इस खिंचाव ने धीरे-धीरे ब्राह्मणी को जोरों से पकड़ लिया और उन्हें पिघलाकर 'गोपाल की माँ' में रूपान्तरित कर दिया।

उस दिव्य दर्शन के बाद करीब दो महीने तक गोपाल की माँ का वह दिव्य भाव निरन्तर बना रहा। जीवन का कोई भी सुख उस दिव्य अनुभूति के आनन्द से अधिक सन्तोष नहीं दे सका था। उनके दुबारा दक्षिणेश्वर आने पर श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा, "अभी तक तुम इतना जप क्यों करती हो? तुम्हारा तो बहुत (दर्शन आदि) हो चुका है।"

गोपाल की माँ – मैं जप न करूँ? मेरा सब हो चुका है?

श्रीरामकृष्ण – सब हो चुका है।

गोपाल की माँ – सब हो चुका है?

श्रीरामकृष्ण – हाँ, सब हो चुका है।

गोपाल की माँ – क्या कहते हो, मेरा सब हो चुका है?

श्रीरामकृष्ण – हाँ, अपने लिए तुम्हारा जप-तप आदि पूरा हो चुका है, पर (अपना शरीर दिखाते हुए) यह शरीर अच्छा बना रहे यह सोचकर यदि करना चाहो, तो कर सकती हो।

गोपाल की माँ – अच्छी बात है, अब आगे जो कुछ भी करूँगी, वह एकमात्र तुम्हारे लिए ही करूँगी, तुम्हारे लिए ही करूँगी, तुम्हारे लिए ही करूँगी।[१५]

इसके पश्चात् एकमात्र गोपाल ही उनके चिन्तन का विषय बन गया। उन्हें यह अनुभूति हो गयी; और श्रीरामकृष्ण ने भी इसकी पुष्टि कर दी कि वे स्वयं उनके गोपाल से भिन्न नहीं, बल्कि वास्तव में दोनों एक ही हैं। उनके लिए श्रीरामकृष्ण दिव्य प्रेम के जीवन्त विग्रह थे और अब उनके हृदय में उनके प्रति ऐसा प्रेम और खिंचाव उमड़ पड़ा था, जैसा कि एक माता का अपने छोटे शिशु पर होता है।

ब्राह्मणी ने अपनी जपमाला गंगाजी में विसर्जित कर दी। उनकी अब एकमात्र साधना रह गयी अपने बाल-गोपाल के साथ खेलना। पर कुछ महीनों के बाद उनके इस प्रकार के दर्शन आदि कम हो गये। श्रीरामकृष्ण ने बताया था – यदि ऐसा न होता, तो उनका शरीर न टिकता। श्रीरामकृष्ण उनकी उच्च आध्यात्मिक भावावस्था की सदा प्रशंसा करते। १३ जुलाई १८८५ को उन्होंने कहा था, "कामारहाटी की ब्राह्मणी तरह-तरह के रूप देखती है...। गोपाल के पास सोती है। कल्पना में नहीं, साक्षात्। उसने देखा गोपाल के हाथ लाल हो रहे हैं। गोपाल उसके साथ घूमते हैं! – उसका दूध पीते हैं! – बातचीत करते हैं!... पहले मैं भी बहुत कुछ देखा करता था। इस समय भाव में उतना दर्शन नहीं होता।"[१६]

नरेन्द्रनाथ (बाद में स्वामी विवेकानन्द) उन दिनों संशयी थे और उन्हें अपनी तार्किक विचार-बुद्धि पर बड़ा अभिमान था। एक दिन श्रीरामकृष्ण ने उनका सामना इस सरल विश्वासिनी गोपाल-की-माँ से करा दिया। उन्होंने गोपाल-की-माँ से अपने अनुभव नरेन्द्र को सुनाने के लिए कहा। गोपाल-की-माँ बोलीं, "गोपाल, इन बातों को कहने से कोई दोष तो नहीं लगेगा?" फिर श्रीरामकृष्ण का आश्वासन पाकर आँसू बहाती हुई गद्गद कण्ठ से गोपालरूपी भगवान के साथ हुई अपनी दिव्य लीलाओं को सविस्तार बताने लगीं। अन्त में सरल हृदय से वृद्धा बारम्बार नरेन्द्रनाथ से पूछने लगीं, "बेटा, तुम तो विद्वान् और बुद्धिमान हो, मैं दीन-दुखिया हूँ, कुछ भी नहीं जानती – तुम्हीं बताओ मेरे ये दर्शन आदि मिथ्या तो नहीं हैं?" वृद्धा की बातों से खूब प्रभावित होकर नरेन्द्रनाथ भी उन्हें बारम्बार आश्वासन देकर समझाते हुए कहने लगे, "नहीं माँ, तुमने जो कुछ देखा है, सब सत्य है।"[१७]

श्रीरामकृष्ण तो सर्वोच्च कोटि के आध्यात्मिक गुरु थे, वे गोपाल-की-माँ को भगवद्भक्ति के दिव्य मार्ग पर आगे-आगे बढ़ाने लगे; और इस यात्रा में उनकी अनुभूतियों की प्रशंसा करते हुए केवल बढ़ावा ही नहीं, अपितु यथावश्यक झिड़कियाँ भी देते। एक बार जब उन्होंने देखा कि गोपाल-की-माँ ने बलराम बाबू के परिवार द्वारा प्रदत्त भेंट का एक पैकेट स्वीकार कर लिया है, तो वे बड़े नाराज हुए। जब गोपाल की माँ को

१२. 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भाग २. पृ. ७०९; **१३**. वही, पृ. ७०९; **१४**. रामचन्द्र दत्त : 'श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवेर जीवनवृत्तान्त' (बँगला), कलकत्ता, श्रीरामकृष्ण योगोद्यान, बंगाब्द १३५७, पृ. १५२; **१५**. 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भाग २, पृ. ७१३-१४

१६. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, नागपुर, भाग २, सं. १९९९, पृ. ९५५; **१७**. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, भाग २, सं. २००८, पृ. ७२९-३०

इसके लिए खूब पश्चात्ताप हुआ, तभी श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूर्ववत् व्यवहार करना आरम्भ किया।

श्रीरामकृष्ण ने अपने स्वभाव के अनुसार गोपाल-की-माँ के प्रति सदा एक-सा भाव बनाये रखा। उन्हें सर्वदा अपनी माँ और स्वयं को उनका बाल-गोपाल ही समझा। उनके इस भाव को कोई तर्क खण्डित नहीं कर सकता था। एक दिन भक्तों की उपस्थिति में गोपाल-की-माँ को देख श्रीरामकृष्ण भावाविष्ट हो गये और उनके पास खड़े होकर, जैसे एक शिशु अपनी माँ से मिलने पर किया करता है, उनके शरीर पर हाथ फेरते हुए दुलार प्रकट करने लगे। वे गोपाल-की-माँ की ओर इंगित करते हुए सबसे कहने लगे, "इस ढाँचे के भीतर केवल हरि ही भरा हुआ है, यह शरीर हरिमय है।"[१८] एक बार जन्माष्टमी के शुभ अवसर पर गोपाल की माँ कुछ चीजें बनाकर अपने गोपाल (श्रीरामकृष्ण) को खिलाने के लिए ले आयीं। तब श्रीरामकृष्ण गले की व्याधि से पीड़ित थे, अत: वे वह खा नहीं सके। इससे ब्राह्मणी को दु:ख हुआ। श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा, "तुम आशीर्वाद दो।"[१९]

श्रीरामकृष्ण के गले के रोग के साथ ही गोपाल-की-माँ का दु:ख भी बढ़ता गया और अन्तत: ठाकुर ने अपनी भौतिक देह छोड़ दी, पर अपने पीछे वे गोपाल-की-माँ को वात्सल्य भाव के जीवन्त दृष्टान्त के रूप में छोड़ गये, ताकि वे साधकों के लिये भक्तिमार्ग के पथ पर प्रेरणारूपी आलोक बिखेरती रहें।

श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण के बाद गोपाल-की-माँ बड़ी अशान्त हुईं, परन्तु उनकी आध्यात्मिकता और अधिक गहरी होती गयी, जिसने उनके जीवन को उच्चतर अनुभूतियों से भर दिया। एक बार गंगाजी के उस पार 'माहेश' की रथयात्रा के दर्शनार्थ जाकर उन्हें सर्वभूतों में गोपाल का दर्शन प्राप्त हुआ था और इस पर वे अतीव हर्षित हुई थीं। इस प्रकार भगवान के विश्वरूप का दर्शनाभास प्राप्त कर प्रेमोन्मत्त हो जाने के कारण उस समय उनकी बाह्य चेतना नहीं रही थी। उन्होंने अपनी एक परिचित महिला से स्वयं यह बात कही थी, "उस समय मुझे अपना होश तक नहीं था, मैं नाच-कूद में मस्त हो रही थी।"[२०] उसके पहले तक वे सिर्फ गोपाल को चाहती थीं, पर अब वे सबको चाहने लगीं, क्योंकि अब सभी लोगों में उन्हें अपना गोपाल ही दिखायी देता था।

उनके चेहरे से सन्तत्व की आभा झलकती और व्यक्तित्व से शान्ति तथा चारों ओर सहानुभूति बिखरती रहती। पास हो या दूर, वे लोगों को प्रेरणा देती रहतीं। एक बार बलराम बाबू के यहाँ भक्तगण उनसे प्रश्न-पर-प्रश्न पूछने लगे। उन्होंने उन लोगों को टालने की कोशिश की और उन्हें श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्य शरत्, तारक और योगेन के पास जाने की सलाह दी। परन्तु जब भक्त लोग नहीं माने, तब वे यह कहकर राजी हुईं, "अच्छा ठहरो, मैं गोपाल से पूछती हूँ!" ऐसा लगा कि उनका गोपाल से सम्पर्क हो गया और सहजता के साथ प्रश्नोत्तर चलने लगा – भक्त लोग उनसे प्रश्न करते और गोपाल उनके माध्यम से प्रश्नों का उत्तर देने लगे।[२१]

आयु बढ़ने के साथ-साथ उनका शरीर जर्जर होता गया, पर वे "पुरातन भारत के जीवन का – प्रार्थनाओं और प्रेमाश्रुओं वाले, जागरण और व्रतों वाले भारत का"[२२] प्रतिनिधित्व करती हुई जीवन बिताती रहीं। उनका जीवन उन आधुनिक संशयी लोगों के लिए चुनौती-स्वरूप था, जो आध्यात्मिक अनुभवों की प्रामाणिकता को सदा सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वे प्रेम की ज्योतिस्वरूप थीं और निरन्तर प्रेम, माधुर्य, प्रशान्ति एवं पावनता का प्रकाश फैलाती रहतीं। श्रीरामकृष्ण के भक्तों के लिए तो वे उनके जीवन एवं सन्देशों की महत्ता का जीवन्त निदर्शन थीं।

गोपाल-की-माँ ने परम्परागत नैष्ठिक कट्टर ब्राह्मणी के रूप में अपनी जीवन-यात्रा प्रारम्भ की थी, पर उनके जीवन में विलक्षण रूपान्तरण सम्पन्न हुआ था। सत्यानुभूति ने उन्हें उदार बना दिया था। उनके हृदय में बहती भगवत्प्रेम की अजस्र धारा ने उनके हृदय को पूर्वाग्रह, संकीर्ण परम्परा, दिखावटी प्रदर्शन और विश्वास की कट्टरता से मुक्त कर दिया था। इस अस्सी वर्षीया वृद्धा ने विदेशी यूरोपियन महिला भगिनी निवेदिता को 'नरेन्द्र की मानसपुत्री' के रूप में अपनाकर उन पर अपना प्रेम-वर्षण किया था। भगिनी निवेदिता लिखती हैं, "मैं रोमांचित हो उठती हूँ, क्योंकि मेरा विश्वास है कि गोपाल-की-माँ का सन्तत्व परमहंस के जैसा ही महान् है। कारण यह कि उनके अन्दर ऐसा मातृत्व था, जिससे रामकृष्ण का हृदय उनके लिए बालक बन गया। क्या इससे अधिक और कुछ कहा जा सकता है?"[२३] गोपाल-की-माँ ने अपने जीवन के अन्तिम ढाई वर्ष भगिनी निवेदिता के साथ ही उनके कलकत्ते के बोसपाड़ा लेन के मकान में बिताये थे। जुलाई, १९०६ को नब्बे वर्ष से अधिक की आयु में[२४] उन्होंने अपना शरीर छोड़ा था। आध्यात्मिक विभूति गोपाल-की-माँ १९वीं शताब्दी के भारतीय गगन में एक उज्ज्वल नक्षत्र के रूप में प्रकाशित हैं, जिसकी प्रभा प्रकाश तथा दिव्य आनन्द की छटा बिखेरती हुई सर्वग्रासी भगवत्प्रेम को चरितार्थ कर रही है।

❑ ❑ ❑

१८. वही, पृ. ७२८; **१९**. 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', भाग २, पृ. १००७; **२०**. 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, भाग २, पृ. ७३३-३४

२१. 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका', भाग २, सं. १९८९, पृ. ३७५; **२२**. 'द मास्टर ऐज आइ सा हिम', पृ. १४९ (स्वामी विवेकानन्द की उक्ति); **२३**. प्रव्राजिका आत्मप्राणा : 'सिस्टर निवेदिता ऑफ रामकृष्ण-विवेकानन्द', कलकत्ता, सं. १९६१, पृ. २०२; **२४**. 'कम्प्लीट वर्क्स ऑफ सिस्टर निवेदिता', कलकत्ता, सं. १९६७, पृ. ३७०

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२३७. बार-बार अभ्यास से विद्या की हो प्राप्ति

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कादम्बरी' के लेखक बाणभट्ट बचपन में गुरुकुल में अध्ययन करते थे। वहाँ उन्हें दिन भर कठोर श्रम करना पड़ता था, पर उन्हें जरा भी कष्ट नहीं होता था। उन्हें दु:ख था तो केवल इस बात का कि जहाँ अन्य छात्रों को वेद आदि ग्रन्थों के मंत्र, श्लोक आदि शीघ्र कण्ठस्थ हो जाते थे, वहीं गुरु द्वारा उनसे पूछने पर कुछ शब्द छूट जाते और सभी छात्र हँस पड़ते। एक दिन जब छात्रों ने उन पर छींटाकसी करते हुए उनकी नकल की, तो वे इसे सहन न कर सके और उन्होंने आत्महत्या करने का निश्चय किया।

वे तत्काल दूर स्थित एक कुँए के पास गये। संध्या का समय था और कुछ महिलाएँ कुँए से पानी भर रही थीं। उन्होंने सोचा कि महिलाओं के जाने के बाद ही कुँए में कूदना ठीक रहेगा। वे पास के एक पत्थर पर बैठ गये और कुँए की ओर देखने लगे। उन्होंने देखा कि रस्सी के छोर में एक बड़ा पत्थर बँधा हुआ है और दूसरे छोर से बाल्टी बँधी हुई है, जिससे स्त्रियाँ पानी भर रही थी। अचानक उन्हें दिखाई दिया कि पत्थर का कुछ भाग सुडौल है। वे सोचने लगे कि इसके सुडौल होने का क्या कारण हो सकता है।

तब उनकी समझ में आया कि पत्थर के उस भाग में रस्सी के बार-बार घर्षण से वह भाग सुडौल हो गया था। उन्होंने सोचा कि जब निर्जीव पत्थर रस्सी के बार-बार घिसने से सुडौल हो सकता है, तो श्लोकों को बार-बार दुहराने से क्या उन्हें भी सफलता नहीं मिल सकती? उन्होंने आत्महत्या करने का विचार त्याग दिया और उत्साहित होकर आश्रम में आए। उन्होंने दुगने उत्साह के साथ पाठों की आवृत्ति आरम्भ कर दिया। इसका अच्छा परिणाम निकला। दूसरे दिन जब आचार्य ने उन्हें श्लोक सुनाने को कहा, तो उनकी जिह्वा जरा भी न लड़खड़ाई। उन्होंने वे श्लोक सही उच्चारण के साथ सुना दिये। यह देखकर सभी छात्र चकित रह गये। आचार्य ने उनकी पीठ थपथपाई और कहा – यदि एकाग्रचित से अभ्यास किया जाए, तो लक्ष्य प्राप्ति में कोई कठिनाई नहीं आती।

२३८. इस झंडे की शान न जाये

१९४२ ई. की बात है। जब इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह का आयोजन हुआ, तो मुख्य अतिथि के रूप में तत्कालीन गवर्नर डॉ. विलियम्स को आमंत्रित किया गया। समारोह के अध्यक्ष कुलपति डॉ. अमरनाथ थे। कार्यक्रम शुरू होने से पूर्व एक छात्र को जब समारोह-स्थल पर तिरंगा झंडा नहीं दिखाई दिया, तो उसने कुलपतिजी का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। अन्य छात्रों के भी ध्यान में यह बात आई, तो वे तिरंगा ध्वज लगाने के लिये चिल्लाने लगे। डॉ. अमरनाथ ने माइक पर छात्रों को शान्त रहने को कहा और बताया कि ध्वज को लगाने की व्यवस्था की जा रही है।

डॉ. विलियम्स ने मंच के समीप जब तिरंगे झंडे को लगते हुए देखा, तो उन्होंने गुस्से से डॉ. अमरनाथ को झंडा लगवाने से मना किया, लेकिन डॉ. अमरनाथ ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। जब झंडा लगाया गया, तो उन्होंने डॉ. विलियम्स से कहा, "यह देश हमारा है। कार्यक्रम हमारा है। हमारे देश में हमारा ही झंडा फहरायेगा। क्या आप इंग्लैंड में हमारे झंडे को फहराने की अनुमति देंगे?" सुनकर डॉ. विलियम्स तिलमिला उठे। उन्होंने इस प्रकार की स्पष्टोक्ति की अपेक्षा नहीं की थी।

डॉ. अमरनाथ ने और भी कहा, "राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगीत और राष्ट्रभाषा हर देश के प्रतीक चिह्न होते हैं। तिरंगा झंडा हमारे राष्ट्र की शान है। हम अपनी मातृभूमि को प्राणों से भी अधिक चाहते हैं। उसकी रक्षा के लिए अपने जीवन की कुर्बानी देना भी हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। राष्ट्र के प्रतीक चिह्नों के प्रति श्रद्धावनत होने में हर देशवासी गौरव का अनुभव करता है। हमने इस झंडे के तले देश को आजादी दिलाने की कसम खाई है। हम उसका निरादर कभी भी बर्दाश्त नहीं करेंगे। तिरंगा यहाँ फहरा कर ही रहेगा।"

डॉ. विलियम्स ने स्वयं को अपमानित महसूस किया। उन्होंने डॉ. अमरनाथ की ओर आँखें तरेरकर देखा और उठ खड़े हुए। डॉ. अमरनाथ ने रोकने की जरा भी चेष्टा न की। उन्हीं की अध्यक्षता में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।
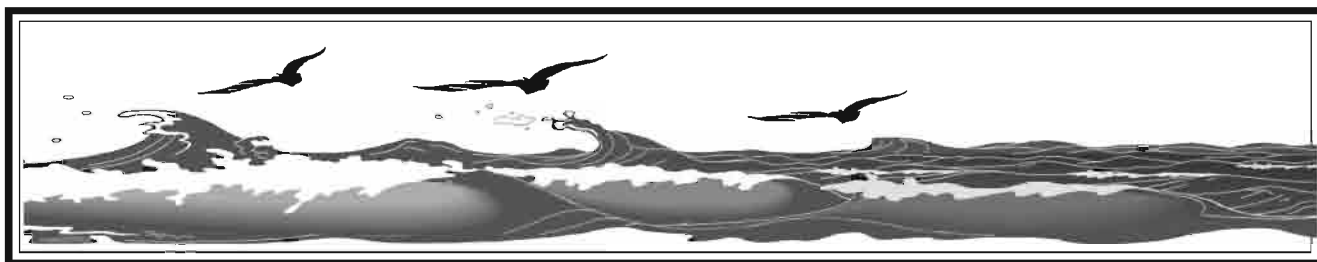
सारगाछी की स्मृतियाँ (५)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

११.०२-१९५९

स्वामी गम्भीरानन्द जी, स्वामी पुण्यानन्द जी, स्वामी कैलासानन्द जी महाराज आये हैं। उनलोगों ने प्रेमेशानन्द महाराज जी के साथ विभिन्न विषयों पर चर्चा की।

पूजनीय महाराज लोगों के चले जाने के बाद सेवक ने महाराज जी से कहा – ठाकुर ने कहा है, जिसने नारी-सुख का त्याग किया है, उसने संसार-सुख का त्याग किया है। फिर भी आप अविवाहित लोगों के सम्बन्ध में कहते हैं कि उनलोगों की वैसी कोई विशेष उन्नति नहीं होगी।

महाराज – एक शब्द है अनाश्रमी। वे लोग किसी भी आश्रम का दायित्व नहीं लेते हैं। अतः उनलोगों की उन्नति होनी कठिन है। फिर भी यदि ये लोग ईश्वर को पकड़ कर रहते हैं या कोई आदर्श लेकर चलते हैं, तो उनलोगों की उन्नति होती है और समाज का भी उपकार होता है।

सेवक – उस दिन आपने कहा कि मन और बुद्धि जड़ हैं, तो क्या ये सब प्राण के द्वारा निर्मित हैं?

महाराज – नहीं, ये सब माया के द्वारा निर्मित हैं। स्थूल वस्तु प्राण से बना है। वास्तव में स्वयं को आवृत कर बुद्धि को ही 'मैं' समझकर मर रहा हूँ। जो विचार करते हैं, उनके लिये प्रत्येक जीवन ही विभीषिकामय है। वे तुरन्त वस्तु या व्यक्ति का भूत-भविष्य देख लेते हैं।

दोपहर को भोजन के समय सामान्यतः सभी साधु लोग एक साथ मिलकर आनन्द करते हुए भोजन करते हैं। उस दिन भोजनालय की कोई आवाज सुनाई नहीं दे रही थी, तब महाराज ने खबर लेने के लिये भेजा। वास्तव में, आवाज होने से महाराज जी को कष्ट हो सकता है, ऐसा सोचकर सभी साधु लोग चुपचाप भोजन कर रहे हैं। महाराज जी ने सूचना भेजी – "जाकर कह दो कि सभी साधुओं के आनन्द पूर्वक भोजन नहीं करने से मुझे कष्ट होगा।"

बहरमपुर-आश्रम से ज्योतिर्मय भाई आये हैं। पुनः उनको वापस जाना है। वे कह रहे हैं, "महाराज जी आपलोगों को छोड़कर वहाँ (बहरमपुर में) मन नहीं जाना चाहता है।

महाराज – अहा ! ठीक ही कह रहे हो ! हमलोगों के साथ रहने के लिये ही तो तुमने घर-द्वार सब कुछ छोड़ा है ! किन्तु क्या करोगे !

महाराज जी ने शाम को टहलने के बाद कमरे में प्रवेश किया। जब सेवक उनको मच्छरदानी के अन्दर रखकर बाहर आ रहा था, तब महाराज ने कहा – "यदि घड़ी की स्प्रिंग की तरह लम्बी इस्पात की स्प्रिंग को दबाकर रखा जाय, तो जैसा होता है, वैसा ही मेरी समष्टि-सत्ता को व्यष्टि के अन्दर आवृत किया है। प्राण की सहायता से मन शरीर बनाकर इन्द्रियों के द्वारा रूप-रस का आस्वादन करता है। पीछे जा-जा कर फिर से स्वरूप में वापस आ सकेंगे। इस प्रकार अपने स्वरूप का चिन्तन कर सकते हो।"

१३-०२-१९५९

महाराज जी के एक प्रिय भक्त अवसर पाते ही महाराज जी के पास आते हैं। उन्होंने महाराज जी से पूछा, 'कृपा, आशीर्वाद इन सबका कितना मूल्य है?

महाराज – एक कौड़ी (पैसा) भी नहीं है, 'उद्धरेदात्मना'। यदि कृपा से ही सब कुछ होता, तो फिर स्वयं भगवान ने जिस पर कृपा की, उस भवनाथ की ऐसी दशा होती ! असली बात ग्रहण-शक्ति को लेकर है। कृपा तो है ही। वे लोग जगतगुरु हैं। वे हमेशा मंगलकामना, आशीर्वाद और कृपा कर रहे हैं। फिर भी जो जितना उच्च आधार होगा, वह उतना ही कृपा पायेगा। अर्थात् वह उनको समझ सकेगा और यह अनुभव करेगा कि वे लोग कृपा कर रहे हैं। एक काम होता है, कृपा या आशीर्वाद पाने से स्वयं ही मन में एक शक्ति का अनुभव होता है। उस शक्ति के बल से साधक बहुत आगे बढ़ जाता है तथा अनुभव करता है कि वह कृपा के बल से आगे बढ़ रहा है। इसके अतिरिक्त संग का प्रभाव है। साधु-संग करने से मन में सत्-चिन्तन होता है, और भोग लेकर रहने से काम का चिन्तन होता है।

सेवक – गुरु का जो रूप देखा जाता है, वह कैसा है? महाराज – गुरु उस सच्चिदानन्द-समुद्र में जाने के लिये एक घाट मात्र हैं। लक्ष्य है समुद्र। किन्तु विभिन्न लोगों के विभिन्न घाट हैं।

सेवक – आप बात-बात में व्यावहारिक ज्ञान Practical Wisdom की बात करते हैं। इसका क्या अर्थ है?

महाराज – तुमको एक मजेदार घटना सुनाता हूँ। हमारे देश में एक ब्राह्मण था। वह खेती करता था। उसने देखा

कि एक सेर धान बोने से तीन महीने के खाने के लिए मिल जाता है। तब उसने निश्चित किया कि अगले वर्ष दस गुणा ज्यादा धान लगायेगा, जिससे दस गुणा अधिक धान मिलेगा। यह है व्यावहारिक ज्ञान का अभाव। उस दिन खाकी हाफ पेन्ट पहना हुआ प्राथमिक विद्यालय का एक शिक्षक आया था। ऐसा वस्त्र पहनकर स्कूल में आने का कारण पूछने पर उसने कहा कि दो साल दारोगागिरी किया था, इसलिये खाकी कमीज पहनने का अभ्यास हो गया है। शायद उसने किसी एक विषय पर पेपर (प्रबन्ध) भी लिखा है और उसे सरकार की ओर से प्रकाशित कराने हेतु राष्ट्रपति राधाकृष्णन जी के पास भेजा है। शहर के बी.ए. एम.ए. पास किये हुए लड़के सभी मुँह फाड़कर उसकी बातों को सुन रहे थे। व्यावहारिक ज्ञान का कितना अभाव है समझा? किसी संन्यासी के पास जाकर सांसारिक कोई समस्या बताने पर वे तुरन्त उसका समाधान बतायेंगे। हाँ, यदि वे सच्चे त्यागी हों तो !

सेवक – 'योगसूत्र' पढ़कर लग रहा है कि मन-बुद्धि के परे जाने से, स्वरूप में अवस्थान करने से सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ हो जाऊँगा। तब, क्या मैं जो इच्छा हो, वही कर सकूँगा? क्या संसार का सब कुछ जान सकूँगा? क्या जिसको चाहूँ उसको मुक्त कर सकूँगा?

महाराज – तुम एकबार गीता के इस श्लोक को याद करो तो –

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मनैव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।

उस समय व्यक्ति की कोई इच्छा ही नहीं रहती है। हमलोग सामान्य एक बतासा में ही भूल जाते हैं। यदि उस आनन्द का स्वाद मिल जाय, तब तो कोई इच्छा ही नहीं रहेगी। उसे ही लेकर आत्मविभोर होकर रहूँगा। संसार की किसी भी वस्तु को जानने की इच्छा नहीं होगी। और यह संसार तो उसके पास संसार नहीं रहेगा, ब्रह्म हो जायेगा, एवं जगत के किसी को भी वह बद्ध नहीं देखेगा – वह सभी को मुक्त देखेगा।

सेवक – द्वैत और विशिष्टाद्वैतवाद के विषय में थोड़ा सा कहिये न !

महाराज – एक ही सूर्य को विभिन्न अवस्था में विभिन्न प्रकार से देखा जाता है। सबेरे के समय एक प्रकार का और दोपहर में दूसरे प्रकार का दिखता है। ठीक उसी प्रकार, ब्रह्म को द्वैत-भूमि में देखना है। जैसे – कृष्ण और मैं। उसके बाद –"नेत्र पड़े जहाँ-जहाँ, कृष्ण-स्फुरण वहाँ-वहाँ।" (का अनुभव होता है)। सबसे अंत में तोतापुरी जी के पास रामकृष्ण देव को उसकी अनुभूति हुई थी – वे ज्ञान के तलवार से देवीमूर्ति को काटकर पूर्ण रूप से अद्वैत भूमि में प्रतिष्ठित हुए थे। केवल stage after stage – एक के बाद एक स्तर आता है।

कुछ दिन से महाराज जी का शरीर बहुत अस्वस्थ है, उन्हें श्वास का कष्ट है। उनके स्नायुतंत्र भी बहुत संवेदनशील हो गये हैं। सबेरे हेम वैद्यराज को लेकर वेदान्त मठ के स्वामी शंकरानन्द जी आये थे। हेम वैद्यराज श्रीम अर्थात् मास्टर महाशय के पास जाते थे। मास्टर महाशय ने उनको कहा था – वे (प्रेमेश महाराज) आश्रम को उज्जवल करके रखे हैं। जाने से ही श्रीमाँ पूछती थीं – 'मेरा इन्द्रदयाल कैसा है?'''

एक प्रसंग में प्रेमेश महाराज जी ने कहा – "एक बार मैं 'माँ' से पूछा था कि मेरे से किसी का कोई अमंगल तो नहीं होगा? माँ ने कहा – "ना बाबा, ठाकुर हैं, तुमसे बहुत से लड़कों का मंगल होगा।"

२३.०२.१९५९

दोपहर में प्रेमेश महाराज जी को एक पत्र पढ़कर सुनाया गया। उसमें एक व्यक्ति मुम्बई से लिखा है – रामकृष्ण मिशन का अध:पतन हो चुका है। क्योंकि एक उपाध्यक्ष महाराज जी के नाम के पहले किसी ने १००८ स्वामी लिखा है।

प्रेमेश महाराज ने सुनकर कहा – "देखा, सामान्य लोगों की बुद्धि की क्षमता ! यह एक स्थानीय शिष्टाचार है। उपाध्यक्ष महाराज ने स्वयं तो नहीं लिखा है। फिर भी क्या इस एक घटना से ही सारा रामकृष्ण मिशन का अध:पतन हो गया? कितनी Sweeping Remarks – नकारात्मक टिप्पणी है, देखा? लोगों की बातों को अच्छी तरह से सोच-विचार कर लेना। Inner life – आन्तरिक जीवन, आन्तरिक जीवन ! यदि एक बार ठाकुर को हृदय के अन्दर रखकर प्रेम कर सकते हो, तो बच जाओगे। वृद्धावस्था में और कोई कष्ट नहीं होगा। नहीं तो, केवल देशोद्धार, जगत-कल्याण करके ही घूमना होगा।"

❖ **(क्रमशः)** ❖
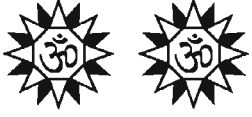
स्वामी प्रेमानन्द के संग में (२७)
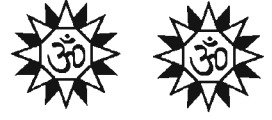
(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। वे मठ के मन्दिर में पूजा भी किया करते थे। बँगला भाषा में हुई उनकी धर्म-चर्चाओं को स्वामी ओंकारेश्वरानन्द लिपिबद्ध कर लेते थे और बाद में उन्हें ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित भी कराया था। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ उसी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

बिडन उद्यान में भगवान श्रीरामकृष्ण

प्रथम परिच्छेद – श्रीरामकृष्ण तुष्टे जगत् तुष्टम्

गरमी का मौसम है। बड़ी गरमी पड़ रही है। पूजनीय बाबूराम महाराज को गर्मी से कष्ट पाते देखकर संध्या-आरती तथा जप आदि के बाद ब्रह्मचारी ब्रह्मचैतन्य उन्हें हवा करने आये। महाराज बोले – "मुझे नहीं, जा ठाकुर को हवा कर – **तस्मिन् तुष्टे जगत् तुष्टम्**।"

ब्रह्मचारी थोड़े संकुचित होकर श्रीठाकुर के शयन-कक्ष से बड़ा हाथपंखा लेकर ठाकुर को धीरे-धीरे व्यजन करते हुए सोच रहे हैं – प्रभो, संसार का पात्र ढूँढ़ते हुए, श्रीगुरु की कृपा से तुम्हें ही पाया है – तस्मिन् तुष्टे जगत् तुष्टम्।

इस प्रसंग में द्वापर युग में श्रीकृष्ण के जीवन की एक घटना स्मरणीय है, जिसका विवरण इस प्रकार है –

"राजा युधिष्ठिर दुष्ट दुर्योधन के साथ पाशे के खेल में पराजित होकर अन्य पाण्डवों तथा द्रौपदी के साथ वन में चले गये थे। वे लोग जब प्रभास तीर्थ के काम्यक वन में निवास कर रहे थे, तभी क्रूर दुर्योधन की प्रेरणा से शिव-अंश-सम्भूत दुर्वासा ऋषि अपने दस हजार शिष्यों के साथ रात के समय वनवासी युधिष्ठिर के अतिथि होकर बोले, 'हमें बड़ी भूख लगी है, हम लोग नदी में स्नान, वन्दना आदि निपटाकर आते हैं, तुम हम लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था करके रखना।' युधिष्ठिर बड़े संकट में पड़े। वे लोग उस वन के भीतर रात के समय इतने लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था भला कहाँ से करते? दुर्वासा के क्रोध की बात उन्हें सुविदित थी। अतिथि-सत्कार में त्रुटि होने पर दुर्वासा के क्रोध से बचा नहीं जा सकता था और सम्भव था कि वे उनके पूरे वंश का नाश कर जाते। दुर्योधन की मनोकामना पूरी ही होनेवाली थी।

द्रौपदी में एक अद्भुत क्षमता थी। उन्हें सूर्यदेव से ऐसा वर मिला था कि उनके भोजन के पूर्व उनके पास चाहे जितने भी अतिथि आ जायँ, वे उन सबको भरपेट भोजन करा सकती थीं। उनके अन्न की हण्डी कभी रिक्त नहीं होती थी। पर उनके भोजन के बाद उस दिन वह हण्डी भरती नहीं थी। युधिष्ठिर द्रौपदी की यह क्षमता जानते थे। पर इससे भी कोई लाभ नहीं था। दुर्वासा अपने दस हजार शिष्यों के साथ जब रात को उनके अतिथि हुए, तब तक द्रौपदी का खाना हो चुका था। एक तो पाण्डव उन दिनों वनवास में थे और दूसरे रात का समय था। अब क्या उपाय हो? दस हजार शिष्यों के साथ दुर्वासा आते ही होंगे, तब उन्हें खाने को क्या दिया जायेगा?

युधिष्ठिर, द्रौपदी आदि आकुल होकर मन-ही-मन भक्तों की मनोकामना पूर्ण करनेवाले श्रीकृष्ण को पुकारने लगे – हे प्रभो, रक्षा करो, रक्षा करो। शरणागत-पालक पाण्डव-सखा कृष्ण उस समय द्वारका में थे। भक्तों की आकुल प्रार्थना उनके पास जा पहुँची। वे तत्काल गरुड़ की पीठ पर सवार होकर काम्यक वन आ पहुँचे और द्रौपदी से बोले, "बड़ी भूख लगी है, जल्दी से कुछ खिलाओ।" द्रौपदी ने कहा, "प्रभो, घर में कुछ नहीं बचा है, क्या दूँ? और तुम तो जानते ही हो कि हम वनवासी है।" श्रीकृष्ण बोले, "इतनी भूख लगी है कि मुझसे सहन नहीं होता; जो भी हो, दे दो।"

द्रौपदी ने उन्हें खाली हण्डी दिखाई। हण्डी के एक कोने में अन्न के कई कण तथा जरा-सा शाक लगा हुआ था। श्रीकृष्ण ने उसी को मुख में डाला और पानी पीकर डकार लेते हुए बोले, "अहा, तृप्त हो गया। इसी से मेरा पेट भर गया।" इधर उनके तृप्त होते ही उधर दस हजार शिष्यों के साथ दुर्वासा को अनुभव हुआ कि उनके भी पेट भर गये हैं। उस रात भूख चली जाने के कारण वे ऋषि लोग युधिष्ठिर का आतिथ्य ग्रहण करने नहीं लौटे। श्रीकृष्ण की तृप्ति से ही वे सभी लोग तृप्त हो गये थे – **तस्मिन् तुष्टे जगत् तुष्टम्**।*

---

* श्रीरामकृष्ण के जीवन में श्रीकृष्ण की इस लीला के समान कोई घटना हमारे देखने में नहीं आयी। पूजनीय ब्रह्मानन्द महाराज तथा बाबूराम महाराज से पूछने का हमें सुयोग नहीं मिला। बाद में 'श्रीरामकृष्ण-पोथी' (बँगला) ग्रन्थ में इसी तरह की एक घटना का विस्तृत विवरण दृष्टिगोचर हुआ। तदुपरान्त हमने श्रीरामकृष्ण के प्रत्यक्षदर्शी लीलासहचर पूज्यपाद स्वामी अभेदानन्दजी महाराज को इसके सत्यापन के लिए जो पत्र लिखा, उसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया था –

रामकृष्ण वेदान्त आश्रम,
दार्जिलिंग, ३-९-१९३७

प्रिय ओंकारेश्वरानन्द,

तुम्हारा २९/८/३७ का पत्र यथासमय प्राप्त हुआ है। तुमने श्रीरामकृष्ण-पोथी से जो घटना उद्धृत की है, वह मेरी नोटबुक में लिखा हुआ है। परन्तु वह 'पोथी' में किस प्रकार लिखा हुआ है, यह मुझे ज्ञात नहीं था। क्योंकि काफी काल से 'पोथी' पढ़ने का मुझे अवसर नहीं मिला है। तुम्हारा पत्र पाने के बाद इस आश्रम में जो 'पोथी' (द्वितीय संस्करण) है, उसके ५५८ पृष्ठ पर मैंने देखा कि 'भक्तों के ठाकुर' अध्याय में इसका विस्तार से वर्णन हुआ है।

यह सत्य है कि ठाकुर के साथ लाटू, गोलाप-माँ और मैं दक्षिणेश्वर से नाव में डॉक्टर दुर्गाचरण के घर गये थे। वहाँ से हम लोग उन्हें किराये की गाड़ी में बीडन स्क्वेयर ले गये थे। उन्होंने कृपा करके मुझे अपने

बलराम मन्दिर में मालदा के भक्तों के साथ

प्रथम परिच्छेद – मालदा का उत्सव

आज सुबह साढ़े आठ बजे मालदा के दो भक्त कलकत्ते के बलराम-मन्दिर में आये हुए हैं। वे लोग मालदा में उत्सव करेंगे। बाबूराम महाराज को वहाँ ले जाने की उनकी हार्दिक इच्छा है। दोनों भक्तों द्वारा बाबूराम महाराज को प्रणाम किये जाने के बाद, उन्होंने उनकी से कुशलता पूछी।

वीरेश्वर – (गोपीनाथ को दिखाते हुए) "महाराज, इसे आपने पहले भी देखा है। इसका घर मालदा में है, इस बार इसने बी. ए. की परीक्षा दी है, नाम गोपीनाथ है। बेलूड़ मठ के उत्सव आदि इसे इतने अच्छे लगे हैं कि इसकी भी अपने गाँव में ठाकुर का एक विशाल उत्सव आयोजित करने की इच्छा है। इन लोगों की हार्दिक इच्छा है कि उत्सव के समय मालदा में आपका शुभ पदार्पण हो।"

बाबूराम महाराज– अच्छा ! सचमुच उत्सव करोगे? कब?

वीरेश्वर– जी, ज्येष्ठ के महीने में।

बाबूराम महाराज – पूर्वी बंगाल से लौटने के बाद से ही मेरे मन नें निरन्तर यह बात आ रही थी कि क्या राजसाही (उत्तरी बंगाल) की ओर से क्या कोई हमें नहीं बुलायेगा? अब देखता हूँ कि सोचते-न-सोचते मालदा से बुलावा आ गया है। श्रीठाकुर का उत्सव करोगे, यह तो बड़ी अच्छी बात है। वे ही कृपा करके सब प्रकार की सहायता जुटा देंगे।

गोपीनाथ – महाराज, हम लोग धीरेन को ले जा रहे हैं। धीरेन के वहाँ रहने पर हमें हर प्रकार की सुविधा होगी।

पास और लाटू को गोलाप-माँ के पास बैठाया था। उन दिनों बिडन स्क्वेयर में उद्यान की क्यारियों के चारों ओर सीमेण्ट का बना हुआ फ्री-मेशन लोगों का चिह्न अंकित था। उन्हीं को देखने के लिए ठाकुर बिडन स्क्वेयर गये थे। मेरे कन्धे पर हाथ रखकर उन्होंने उन चिन्हों का अवलोकन किया और मैंने उनकी व्याख्या करके उन्हें समझाया था। इसके बाद उनको साथ लेकर नाव में हम लोग दक्षिणेश्वर लौट रहे थे। अपराह्न के प्राय: दो बज जाने के कारण हम सभी को बड़ी भूख लगी थी और सभी के पेट में चूहे कूद रहे थे। श्रीरामकृष्ण को भी भूख लगी थी, इसी कारण उन्होंने वराहनगर के प्रामाणिक-घाट पर नाव रोकने को कहा। इसके बाद मैं वराहनगर के बाजार से चार पैसे के 'छानार मुड़की' (छेने-मुरमुरे के लड्डू) खरीद लाया। ठाकुर ने उसे पूरा खाकर ठोंगे को गंगा में फेंकने के बाद अंजलि से पानी पीकर डकार ली। हम लोगों को उन्होंने कोई प्रसाद भी नहीं दिया, पर हम सबकी भूख दूर हो गयी और हम लोगों ने एक-दूसरे के मुख को देखते हुए आनन्द तथा क्षुधानाश का अनुभव किया था। पोथी में जो लिखा है कि गोलाप-माँ ने उन्हें अंजलि से पानी पिलाया था, यह बात सत्य नहीं है। उन्होंने अपने हाथ से अंजलि भर-भरकर गंगाजल का पान किया था। उस समय मुझे – 'तस्मिन् तुष्टे जगत् तुष्टम्' आदि का अनुभव हुआ था। डॉक्टर दुर्गाचरण कौन थे, यह मैं नहीं बता सकूँगा। इति शुभाकांक्षी – अभेदानन्द

पु. – कलकत्ते के कुम्हारटोली में नीलकण्ठ की यात्रा (गीतिनाट्य) के समय लाटू तथा मैं उनके साथ गये थे।

बाबूराम महाराज – हाँ, जरूर ले जाओगे। वह सब दिखा सकेगा। (वीरेश्वर की ओर देखकर) क्यों रे, तो तू जा रहा है?

वीरेश्वर – इन सबने पकड़ लिया है, जाना ही पड़ेगा। आपका क्या आदेश है?

बाबूराम महाराज – अच्छा है, जा न, सब समझा देना।

वीरेश्वर – वहाँ के उत्सव की सारी व्यवस्था हो जाने और दिन निर्धारित हो जाने पर मैं यथासमय आपको सूचित करूँगा। आप तैयार रहेंगे। हम लोग आपको लेने आयेंगे।

इसी प्रकार थोड़ी देर वार्तालाप के उपरान्त गोपीनाथ तथा वीरेश्वर ने बाबूराम महाराज को प्रणाम करके विदा ली।

द्वितीय परिच्छेद

१९१४ ई. का मई-जून का महीना। लगभग दस बजे होंगे। महाराज स्नान करनेवाले हैं। तभी वीरेश्वर आदि मालदा के दो-तीन भक्तों ने मठ में आकर महाराज को प्रणाम किया।

बाबूराम महाराज – "तुम लोग आये हो? सोच रहा था कि तुम लोगों ने मुझे बुलाया नहीं।"

और भी दो-एक बातें पूछने के बाद महाराज ने उन्हें स्नान आदि कर आने का आदेश दिया।

संध्या हो गयी है। बाबूराम घूम-फिर कर मठ के विभिन्न कार्य देखने-दिखाने के बाद पूर्व की ओर के बरामदे में आकर बड़े बेंच पर बैठे। साथ में मालदा के दोनों भक्त भी हैं।

वीरेश्वर – महाराज, यहाँ से किस दिन प्रस्थान करना आपके लिए सुविधाजनक रहेगा?

बाबूराम महाराज – अभी-अभी तो आये हो, अभी से रवाना होने की बात? दो-तीन दिन विश्राम तो कर लो !

वीरेश्वर – दो-एक दिन तो ऐसे ही बीत जायेंगे। वहाँ सभी लोग उद्विग्न हैं। हम लोगों के मालदा जाने की तारीख सूचित कर देने पर वे लोग निश्चिन्त हो जाते।

बाबूराम महाराज – जाना क्या मेरी इच्छा से होता है?

वीरेश्वर – तो फिर किसकी इच्छा से होता है, महाराज?

बाबूराम महाराज – श्रीठाकुर की इच्छा यदि हो, तभी जाना होगा। हम लोग तो न जाने कितनी सारी इच्छाएँ करते रहते हैं, पर भला कितने कार्य अपनी इच्छा से कर पाते हैं?

वीरेश्वर – श्रीठाकुर की इच्छा कैसे जानेंगे, महाराज?

बाबूराम महाराज – क्यों, बागबाजार में साक्षात् माँ जगदम्बा हैं ! उनसे पूछने से ही होगा। वे यदि अनुमति दें, तभी जाना हो सकेगा।

वीरेश्वर – श्री माँ से मिलने कब जाना चाहते हैं?

बाबूराम महाराज – चलो न, कल सबेरे ही चला जाय। प्रात: अनेक नौकाएँ इधर से कलकत्ते की ओर जाती हैं। एक को आवाज देने से आकर हमें ले जायेगा। ❖ (क्रमश:) ❖

ममतामयी माँ

बिन्दुवासिनी देवी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

माँ ममतामयी थीं। उनका हृदय कितना विशाल था, इसे कैसे समझाऊँ? कहकर भला कहीं समझाया जा सकता है? मन में उसकी धारणा करनी होगी! लेकिन लोग हठ करते हैं, तो दो-एक बात बिना कहे रह नहीं पाती। वे कितना प्रेम करती थीं! माँ मुझे बहू कहकर बुलाती थीं। माँ की बात कहने के पहले उस समय की थोड़ी बातें बता दूँ कि किस प्रकार हम लोगों को माँ के श्रीचरणों में आश्रय प्राप्त हुआ।

मैं उस काल की एक ग्राम्य स्त्री और उस पर (जिबटा के) जमींदार घराने की बहू थी! उन दिनों जमींदार घरानों की बहुओं को बाहर निकलने की अनुमति बिल्कुल नहीं थी। मायके जाना ही बड़ी बात थी! मायके से एक व्यक्ति आकर ससुर के साथ बातचीत कर दिन निश्चत करके ले जाता, उसके बाद निर्दिष्ट दिन पंचांग देखकर शुभ मुहूर्त में पालकी में चढ़कर मायके के लिये निकलना पड़ता। साथ में सिपाही और कहार रहते।

उन दिनों मन्दिर के चबूतरे पर नाटक, कीर्तन, गान, बाउल गीत, रामायण और भागवत-पाठ आदि काफी-कुछ होता, हम जमींदार-घर की स्त्रियों के लिये दालान के एक किनारे महीन जाल से घिरी हुई जगह रहती। उसी में से कार्यक्रमों को देखना हमारी रीति थी। उसमें से सारे कार्यक्रम ठीक से नहीं दिखते थे। पर कुछ कहा भी नहीं जा सकता था। पर जमींदार घराने के पुरुषों की बात अलग थी। नारायणपुर, सातवेड़े, हल्दी, जयरामबाटी, देशड़ा आदि अनेक मौजे जिबटा की जमींदारी के अंग थे। सभी गाँवों में सार्वजनिक दुर्गापूजा होती। उस दौरान मेला, गान, नाटक आदि चलते रहते। रात के १०-११ बजे नाटक शुरू होती। नियम था कि जमींदारों की पालकी न आने तक उसे आरम्भ नहीं किया जाता था। यदि किसी गाँव का मुखिया जमींदार की अनुमति लिये बिना या जमींदार के आने के पूर्व ही गान शुरू करा देता, तो जमींदार का नायब उसे बीच में ही रुकवा देता। कई बार तो जमींदार के लठैत गाना बन्द कराते। दूसरे गाँवों के कार्यक्रम देखने जाने की भी हम लोगों को छूट नहीं थी।

जिबटा जयरामबाटी के काफी निकट है। जैसे जयरामबाटी गाँव के विभिन्न झमेलों में जमींदारों को जाना पड़ता था, वैसे ही उस गाँव में कोई भी उत्सव या समारोह होने पर राय बाबुओं के आये बिना वह शुरू ही नहीं होता। मैं जयरामबाटी के किसी व्यक्ति को नहीं पहचानती थी। बाद में जब माँ का दर्शन किया, तब सबको पहचानने लगी।

मेरे ससुर बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे। व्यक्तित्व के जैसा ही उनका स्वभाव भी था। वे विभिन्न गाँवों में झगड़े-टंटे निपटाने जाते। सुना है कि मेरे पति (शम्भुचन्द्र राय) शुरू में माँ को उतना नहीं मानते थे। प्रथम स्त्री (चारुबाला) की मृत्यु के बाद उनके भावों में काफी परिवर्तन आया था। किसी काम में मन नहीं लगता था। सर्वदा बुझे-बुझे से, उदास रहते। उनकी पत्नी एक छोटी बच्ची छोड़ गयी थी। कहते – यदि उस समय माँ से उनकी भेंट न हुई होती, तो शायद वे संसार त्यागकर कहीं निकल गये होते।

सुना है उसी समय उनकी पूजनीया गौरी-माँ से भेंट हुई। वे जिबटा के शिव-मन्दिर में आयी थीं। तब जिबटा के राय -तालाब में बहुत-से कमल खिलते। श्रीमाँ के घर पर पूजा के लिये गौरी-माँ राय-तालाब से कमल लेने जिबटा आयी थीं। उसी समय मेरे पति से उनकी भेंट हुई। उन्होंने विशेष कर गौरी-माँ से ही श्रीमाँ की महिमा सुनी थी। गौरी-माँ ने ही उनसे कहा था कि यदि वे माँ से मिलें, तो उनके मन की सारी अशान्ति दूर होगी और वे एक नये व्यक्ति में परिणत हो जायेंगे। जमींदार घराने के खून में इतना विनय नहीं था, पर न जाने कैसे मेरे पति ने गौरी-माँ की बातों पर विश्वास कर के स्वयं को माँ के चरणों में समर्पित कर दिया था। बाद में जब मैंने उन्हें देखा, तब उनके मुख से माँ के सिवा और कोई बात ही नहीं निकलती थी। सारे समय माँ का प्रसंग, माँ के उपदेश और माँ के निर्देश!

जिबटा की जमींदारी में कई लोगों के हिस्से थे। ऐसा नहीं कि वे सभी माँ के भक्त रहे हों! बल्कि उन लोगों ने कई बार माँ को कष्ट भी दिया है। माँ के पास जात-पात कोई भेद नहीं था। डोम, बागदी, मोची, मुसलमान – सब आते। एक बार जगद्धात्री पूजा के समय लोगों को खिलाते समय परोसने का काम ब्राह्मणों से न कराने पर जमींदार तथा गाँव के कट्टर ब्राह्मणों ने खूब बखेड़ा किया था। इस कारण माँ को कई बार

जुर्माना भी देना पड़ा था। बाद में जब मेरे पति ने जमींदारी का उत्तरदायित्व सँभाला, तब माँ जो कहतीं, वे वही करते।

मेरे विवाह के कुछ दिन बाद ही वे मुझे माँ के पास ले गये। जमींदार घर की बहू पालकी करके माँ को देखने आयी हैं – यह देखने गाँव के बहुत से लोग आ जुटे थे। इससे मुझे बड़ी लज्जा आयी थी। माँ को देखने जाऊँगी, लेकिन वह भी पालकी में बैठकर ! मैंने अपने पति से कहा कि मैं पैदल ही जाऊँगी। वे बोले, "ऐसा कैसे होगा? जमींदार के घर की स्त्री कभी पैदल दूसरे गाँव नहीं जाती। यदि पैदल ही जाकर माँ का दर्शन करना चाहो, तो तुम्हें कलकत्ते जाना होगा।" इसलिये माँ के साथ मेरी भेंट अधिकांशत: 'उद्बोधन' के मातृभवन में ही हुई है। माँ के जयरामबाटी में होने की सूचना मिलने पर भी मुझे उनके पास जाने का अधिक सुयोग नहीं मिला। इस बात का अब भी मेरे मन में दु:ख है।

मेरे विवाह से पूर्व ही मेरे पति ने माँ से दीक्षा ले ली थी। विवाह के बाद पति के साथ कई बार माँ के पास आना-जाना हुआ। एक दिन पतिदेव ने कहा, "अब दीक्षा लेने का समय हो गया है। यथाशीघ्र दीक्षा ले लो।" इसके बाद ही मैंने माँ से दीक्षा ली। बड़ी इच्छा थी कि माँ को सोने की अंगूठी देकर प्रणाम करूँगी। दीक्षा के दिन मैंने माँ से कहा, "माँ, मेरी एक जिद है, आपको मेरी वह हठ माननी होगी।"

माँ ने शान्त स्वर में पूछा, "क्या बात है बहू?" मैं बोली, "माँ, मैंने आपके लिए यह अंगूठी बनवायी है। इसे आपको पहनना होगा। यही मेरी विशेष इच्छा है।" माँ बोलीं, "अच्छा बहू, ऐसा ही होगा। परन्तु तुम यह सब क्यों करने गयी?" मैंने कहा, "नहीं माँ, आपके मना करने पर हम दोनों लोगों को बड़ा कष्ट होगा। यह हमारी बहुत दिनों की इच्छा थी।"

एक अन्य विशेष घटना याद है। विवाह के बाद मुझे बहुत दिनों तक कोई सन्तान नहीं हुआ। रिश्तेदार लोग आलोचना करते। घर में होली या दुर्गापूजा के उत्सव का कोई भी कार्य मुझे नहीं करने देते। खरी-खोटी सुनाते कि मुझे सन्तान नहीं हुआ, अत: मैं देवी-देवता का कार्य नहीं कर सकती। जब यह बात अपने कानों से सुनी तो, जो कष्ट हुआ, उसे कैसे बताऊँ? पति से कहा – एक बार शीघ्र मुझे कलकत्ते ले चलें।

माँ बागबाजार के उद्बोधन-भवन में थी। मैं उनका दर्शन करने गयी। पहले दिन कुछ कह न सकी। दूसरे दिन जाने पर माँ को एकान्त में पाकर मैंने अपने मन का सारा दुख बताया। माँ ने मुझे शान्त किया और कमरे के भीतर से एक गोपाल-मूर्ति लाकर मेरे हाथों में देकर बोलीं, "बहू, तुम्हें यह गोपाल दिया, पूजा करो।" माँ के हाथ से गोपाल को पाकर मुझे अपार आनन्द हुआ ! उसी के बाद मुझे पुत्र की प्राप्ति हुई।

मैं पहले ही बता चुकी हूँ कि मेरे पति की पहली पत्नी की एक पुत्री थी। उसका नाम सरोजवासिनी था। हम उसे 'सरोज' कहकर पुकारते। उसकी शादी कोआलपाड़ा के नफरचन्द्र कोले के पुत्र भूतनाथ कोले के साथ हुआ था। ससुराल के लोग बड़े व्यवसायी और धनी थे। कलकत्ता के बेलेघाट में उनका व्यापार तथा मकान था। सरोज को संसार के झमेले में एक बार बड़ी मानसिक अशान्ति हुई। जिबटा आकर मुझे बताने पर मैं उसे माँ के पास ले गयी। माँ ने उसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। वह भी माँ की अतीव स्नेहपात्री थी। वह प्राय: माँ का दर्शन करने बागबाजार जाती रहती थी। उन दिनों जमींदार घराने का अर्थ ही था – लठैत, चौकीदार, दंगा-फंसाद – जमींदार लोग इन्हीं सब में व्यस्त रहते। जिबटा के जमींदार भी इसके अपवाद न थे। तो भी सौभाग्य की बात यह थी कि उनमें से भी कोई-कोई व्यक्ति माँ की कृपा पाकर धन्य हुए थे। हम लोग स्वयं इसके प्रमाण हैं। मेरे पति के एक भतीजे सजनीकान्त राय भी माँ के दीक्षित शिष्य थे। वे जयरामबाटी में दवा देते। होम्योपैथिक डॉक्टर के रूप में उन्हें काफी ख्याति मिली थी। उनकी मृत्यु के बाद उनके बड़े भाई राजनीकान्त राय ने माँ के घर पर दातव्य चिकित्सा का दायित्व लिया। उन्होंने स्वप्न में माँ से मंत्र पाया था।

परवर्ती काल में माँ को कोई जरूरत पड़ने पर वे किसी को भेजकर मेरे पति को बुलवा लेतीं। वे सारा काम छोड़कर माँ के पास दौड़ जाते। उन दिनों प्रमथ कोंगार राय-जमींदारी के मुख्य गुमाश्ता (एजेंट) थे। वे शिक्षित और धीर-स्थिर स्वभाव के थे। जब माँ के पास कोई ब्रह्मचारी या संन्यासी शिष्य नहीं रहते या कोई पत्र आदि आता और उसका उत्तर देना होता, तो वे मेरे पति को सूचित करतीं। उन्होंने हमारे गुमाश्ता बाबू को निर्देश दे रखा था कि वे हर दो-एक दिन बाद माँ के घर जाकर पता करते रहें कि कोई काम तो नहीं है ! वे जब तक जमींदारी का काम करते रहे, तब तक इस दायित्व का भी पालन करते रहे। वे भी माँ के विशेष निष्ठावान शिष्य थे।

जिबटा के रायभवन तथा हमारे जीवन में माँ की भूमिका को शब्दों में नहीं समझाया जा सकता। सुना है, वर्षों पूर्व ठाकुर इधर से शिहड़ जाते समय हमारे शिव-मन्दिर के चबूतरे पर बैठे थे तथा अन्य मन्दिरों और देवी-देवताओं का दर्शन किया था। उनके दर्शन का सौभाग्य तो हमें नहीं मिला, पर मेरा विश्वास है कि हमारे परिवार पर उनका आशीर्वाद वर्षित हुआ है। तभी तो माँ ने हमें अपनी गोद में आश्रय देकर कृतार्थ किया है। माँ का स्पर्श और अपार स्नेह मिला है। माँ हमारी सारी भूल-त्रुटियों को भुलाकर सदा हमें गोद में उठा लेने को व्याकुल होतीं। अन्यथा हमारे समान बद्ध जीव भला कैसे उनके श्रीचरणों को छूने के अधिकारी होते? जय माँ !

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द की प्रारम्भिक यात्राएँ

स्वामी विदेहात्मानन्द

१८८६ में आँटपुर गमन

१६ अगस्त, १८८६ ई. को श्रीरामकृष्ण ने देहत्याग किया और इसके कुछ दिनों बाद ही उनके गृही भक्त सुरेन्द्रनाथ के उत्साह तथा आर्थिक सहयोग से नरेन्द्रनाथ (बाद में स्वामी विवेकानन्द) ने अपने गुरुभाइयों तथा उनके साथ स्वयं के निवास हेतु कलकत्ते के ही वराहनगर अंचल के एक टूटे-फूटे खण्डहरनुमा मकान में 'मठ' की स्थापना की। एक-एक कर उनके गुरुभाई वहाँ एकत्र होने लगे। आगामी डेढ़ वर्षों के दौरान यहाँ से स्वामीजी ने कुछ छोटी-मोटी यात्राएँ ही की थीं, जिनके विषय में विस्तृत जानकारी तो नहीं, पर कुछ संकेत या किसी घटना का विवरण मात्र प्राप्त होता है। यहाँ हम उन्हीं को यथाक्रम प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

बाबूराम (बाद में स्वामी प्रेमानन्द) की माता मातंगिनी देवी की बड़ी इच्छा थी कि वे भगवान श्रीरामकृष्ण को कलकत्ते से २४ मील दूर स्थित अपने गाँव आँटपुर के घर में लाकर उनकी सेवा करें। परन्तु श्रीरामकृष्ण की अस्वस्थता तथा देहत्याग से उनकी यह इच्छा अधूरी ही रह गयी, इस कारण वे प्राय: ही खेद प्रकट किया करती थीं। माता को प्रसन्न करने की इच्छा से बाबूराम ने निश्चय किया कि वे श्रीरामकृष्ण के परमप्रिय शिष्य नरेन्द्रनाथ को आँटपुर ले जाएँगे। नरेन्द्रनाथ ने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार किया। पहले ठीक हुआ था कि नरेन्द्र, बाबूराम आदि दो-चार लोग ही जाएँगे; पर क्रमश: मठ के प्राय: सारे गुरुभाई इस टोली में सम्मिलित हो गये। राखाल उन दिनों पुरी गए हुए थे। योगेन तथा लाटू श्रीमाँ सारदा देवी के साथ वृन्दावन गये हुए थे। बड़े गोपाल भी मठ से अनुपस्थित थे। दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में नरेन्द्र, बाबूराम, शरत्, शशी, तारक, काली, निरंजन, गंगाधर और सारदा – हावड़ा से तारकेश्वर जानेवाली मार्टिन कम्पनी की रेलगाड़ी में सवार हुए। वे लोग साथ में तानपूरा और तबला लेना भी नहीं भूले थे। गाड़ी में बैठने के बाद नरेन्द्रनाथ ने "शिव-शंकर बम बम भोला" आदि भजन गाना शुरू किया। रास्ते भर गाते-बजाते और परिवेश को आनन्द से मुखरित करते हुए वे लोग हरिपाल स्टेशन पर उतरे तथा वहाँ से आठ मील का रास्ता घोड़ेगाड़ी से तय करते हुए शाम के पूर्व ही आँटपुर जा पहुँचे। उन सब को पाकर बाबूराम की माता श्रीमती मातंगिनी देवी आनन्दविभोर हो उठीं। आगन्तुकों में श्रीरामकृष्ण के दुलारे राखाल को न देखकर वे दुख व्यक्त करने लगीं। नरेन्द्रनाथ ने उन्हें आश्वस्त किया कि वे राखाल को लेकर पुन: आँटपुर आएँगे, तब वे थोड़ी शान्त हुईं। वे अपनी ही सन्तानों की भाँति सबके भोजन तथा शयन की उत्तम व्यवस्था करने में व्यस्त हो गयीं। वैसे तो जमींदार लोगों के यहाँ नौकर-चाकरों की कमी नहीं रहती, पर श्रीरामकृष्ण के इन त्यागी शिष्यों के सेवा-सत्कार का भार उन्होंने स्वयं ही अंगीकार कर लिया था।[१]

गाँव की सुरम्य हरियाली तथा निर्जन परिवेश और सहज आहार-विहार की व्यवस्था के बीच ये युवा साधक भगवच्चर्चा, चिन्तन-मनन और ध्यान-धारणा में तल्लीन हो गये। वे प्राय: ही श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा वाणी द्वारा अभिव्यक्त अलौकिक प्रेम और आध्यात्मिक जीवन विषयक उपदेश, निर्देश तथा सन्देशों पर परस्पर विचार-विनिमय किया करते थे। इसके साथ-ही वे भजन-कीर्तन, स्तोत्र-पाठ और शास्त्रों के गूढार्थ पर भी विचार करते। श्रीरामकृष्ण के उपदेश एवं संन्यास जीवन के आदर्श का स्मरण कराते हुए नरेन्द्र ने गुरुभाइयों से कहा, "जय रामकृष्ण ! मनुष्य निर्माण करना – यही हमारे जीवन का उद्देश्य होगा। यही हमारे जीवन की एकमात्र साधना होगी। निरर्थक विद्वत्ता की हमें क्या जरूरत है ! क्षण भर के लिये भी संसार का ऐश्वर्य हमारे मन को विचलित न कर सके। भगवत्-प्राप्ति ही जीवन की एकमात्र वस्तु है। श्रीरामकृष्ण अपने जीवन में यही दिखा गए हैं। इस भाव को हम निश्चय ही अपने जीवन में रूपायित करेंगे। हम सच्चे मनुष्यत्व की उपलब्धि करेंगे और अपने प्रकृत स्वरूप को अभिव्यक्त करेंगे। हम ईश्वर-दर्शन अवश्य करेंगे।"[२]

एक दिन उन लोगों ने घोष-परिवार के दुर्गा-मण्डप में जीवन्त शिव-पार्वती की पूजा की थी। गंगाधर 'शिव' और सारदा 'पार्वती' सजे थे।[३]

मकान के पीछे की ओर एक तालाब था, जिसके किनारे इमली के पेड़ों की कुछ डालियाँ बिखरी हुई थीं। वे लोग उन्हें उठाकर दुर्गा-मण्डप की सीढ़ियों से थोड़ा दूर दक्षिण-पूर्वी कोने में ले आये। वहीं उन लोगों ने उन्मुक्त आकाश के नीचे एक विशाल धूनी जलायी।[४] तुलसीराम घोष बताते हैं कि उस बार वहाँ तीन दिन, तीन रात धूनी जली थी।[५]

तारकनाथ (स्वामी शिवानन्द) ने बाद के दिनों में इस

---

१. युगनायक विवेकानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, नागपुर, सं. १९९८, भाग १, पृ. १८५-८६; ब्रह्मानन्द चरित, स्वामी प्रभानन्द, प्र.सं., पृ. ७६-७७

२. The Life of Swami Vivekananda by His Eastern & Western Disciples. Vol.-II (1913) p. 22

३. तुलसीराम घोष की स्मृतिकथा (ब्रह्मानन्द चरित में उद्धृत)

४. श्रीरामकृष्ण-संघ का होमकुण्ड वराहनगर मठ, स्वामी विमलात्मानन्द, नागपुर, सं. २०१२, पृ. २७

५. स्मृतिर आलोय स्वामीजी (बँगला), प्र.सं., पृ. २४९

प्रसंग का वर्णन करते हुए कहा था, "उन दिनों हम लोगों के हृदय में तीव्र वैराग्य था; ठाकुर के विरह में सब के मन-प्राण व्याकुल थे। सभी कठोर साधन-भजन में रत थे। दिन रात सर्वदा यही चिन्ता बनी रहती थी कि कैसे भगवत्प्राप्ति हो, कैसे प्राणों को शान्ति मिले। आँटपुर जाकर हम लोग खूब साधन-भजन करने लगे। धूनी जलाकर, उसी के पास बैठकर पूरी रात जप-ध्यान में बिता देते थे। स्वामीजी हम लोगों के साथ त्याग-वैराग्य आदि की खूब चर्चा करते। कभी उपनिषद्, कभी गीता, तो कभी भागवत पढ़ाते और उनकी मीमांसा आदि करते। इसी प्रकार वहाँ कुछ दिन बीत गये।"[६]

इन्हीं दिनों २४ दिसम्बर को आँटपुर में एक ऐसी घटना हुई, जो रामकृष्ण संघ के इतिहास में विशेष महत्त्व रखती है। एक दिन संध्या के काफी देर बाद, रात के समय वे लोग नक्षत्र-खचित खुले आकाश के नीचे धूनी जलाकर उसके चारों ओर बैठे हुए जप-ध्यान में डूबे हुए थे। परिवेश में पूर्ण निस्तब्धता व्याप्त थी। लकड़ियों की चटचटाहट ही यदा-कदा नीरवता को थोड़ा भंग कर पा रही थी। चारों ओर फैले घोर अन्धकार के बीच धूनी की लपलपाती अग्नि की ज्योति से, बीच-बीच में इन त्यागियों के तेजोमय शरीर, प्रशान्त मुखमण्डल तथा उन्नत ललाट उद्भासित हो उठते थे।

काफी देर ध्यान-धारणा के बाद उनमें सच्चर्चा शुरू हुई। त्याग-वैराग्य का प्रसंग उठने पर नरेन्द्रनाथ अपनी मर्मस्पर्शी भाषा में ईसा मसीह के जीवन का वर्णन करने लगे। उन्होंने सबको उन ईसा के समान ही त्यागमय जीवन बिताने का आह्वान किया, जिनके 'सिर धरने को भी' जगह न थी। इसके बाद सन्त पॉल से शुरू कर ईसा मसीह के अन्य विभिन्न त्यागी शिष्यों के अथक परिश्रम और आत्म-समर्पण के फल-स्वरूप किस प्रकार ईसाई धर्म और ईसाई सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार हुआ, उसके इतिहास का वर्णन कर वे अपने गुरुभाइयों को त्याग-ऐश्वर्य से मण्डित प्रेरणामय एक नवीन राज्य में ले गए और उन्होंने सब से साग्रह निवेदन किया कि वे सब भी मानो ईसा मसीह और उनके शिष्यों की भाँति पवित्र जीवन गठित कर उसे विश्व-कल्याण में उत्सर्ग करें।

उस प्राणदायी वक्तव्य के प्रभाव से सारे गुरुभाईगण उठ खड़े हुए और सामने प्रज्वलित धूनी की धधकती अग्निशिखा को साक्षी बनाकर ईश्वर के चरणों में अपना अटूट संकल्प प्रकट किया – हम इस संसार का परित्याग करेंगे। सामने की अग्निशिखा ने उन लोगों के भावोद्दीप्त शरीर पर प्रतिफलित होकर उस आवेगमय प्रतिज्ञा को और भी आलोकित कर दिया। सारा परिवेश मानो एक दिव्य प्रेरणा से सिहर उठा।

शिवानन्द जी ने इसी घटना का वर्णन करते हुए कहा था, "एक रात हम लोग धूनी के पास बैठकर ध्यान कर रहे थे। काफी देर तक ध्यान करने के बाद स्वामीजी सहसा मानो भावाविष्ट होकर तन्मय भाव से ईसा मसीह के जीवन पर बोलने लगे। ईसा की कठोर साधना, ज्वलन्त त्याग-वैराग्य, उनके उपदेश और सर्वोपरि, परमात्मा के साथ उनकी एकत्व-अनुभूति आदि घटनाओं का सुन्दर ओजपूर्ण वाणी में ऐसे वर्णन करने लगे कि हम सभी चकित हो गये। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो साक्षात् ईसा ही स्वामीजी के मुख से हम लोगों को अपनी अलौकिक जीवनगाथा सुना रहे हों। सुनते-सुनते हम लोगों के हृदय में एक अनिर्वचनीय आनन्द का स्रोत उमड़ने लगा; और मन में केवल यही भाव उठने लगा कि चाहे जैसे भी हो, सर्वप्रथम भगवान को पा लेना होगा, उनके साथ एक हो जाना होगा – संसार की बाकी सब वस्तुएँ तो निस्सार हैं। स्वामीजी जब जिस विषय पर बोलते, तब उसे पराकाष्ठा तक पहुँचा देते थे। बाद में मालूम हुआ कि वह दिन 'बड़ा दिन' था; उसके पहले कोई यह नहीं जानता था। तब लगा कि अवश्य, ईसा ने ही स्वामीजी के भीतर आविर्भूत होकर हमारे त्याग-वैराग्य और भगवत्प्राप्ति की आकांक्षा को उद्दीप्त करने हेतु हमें अपनी महिमापूर्ण जीवनी और उपदेशों का रसास्वादन कराया है।"[७] जब सभी आनन्दमग्न अपने कमरों में लौट आये तो किसी ने देखा कि वह 'क्रिसमस इव' (ईसा के जन्म की पूर्वसन्ध्या) का दिन था और इस कारण उनका आनन्द द्विगुणित हो उठा। बाद के दिनों में उस घटना के महत्त्व का स्मरण करते हुए स्वामी शिवानन्द जी ने कहा था, "आँटपुर में ही हम लोगों के भीतर संन्यासी होकर संघबद्ध रूप से रहने का संकल्प दृढ़ हुआ था। श्रीरामकृष्ण तो हम लोगों को संन्यासी बना ही गये थे, परन्तु आँटपुर में वह भाव और भी पक्का हो गया था।"

वहाँ सात दिन बिताने के बाद लौटते समय सभी गुरुभाई वहाँ से थोड़ी दूरी पर स्थित तारकेश्वर-तीर्थ गए। वहाँ दो दिन रहकर महादेव की पूजा-अर्चना और भजन-कीर्तन करने के बाद वे लोग वराहनगर मठ लौट आए।[८] इसके थोड़े दिन बाद ही इन लोगों ने आनुष्ठानिक संन्यास ग्रहण किया।

राखाल, योगेन, गोपाल और लाटू – मठ से अनुपस्थित होने के कारण आँटपुर जानेवाली इस टोली में शामिल नहीं हो सके थे। नरेन्द्रनाथ ने बाबूराम की माता मातंगिनी देवी को वचन दिया था कि वे राखाल को लेकर पुन: आँटपुर आयेंगे। कुछ दिनों बाद राखाल के पुरी से लौटने पर अपना वचन पूरा करने हेतु उन्होंने राखाल को साथ लेकर १८८७ ई. के जनवरी में पुन: आँटपुर की यात्रा की थी। उनके साथ बाबूराम, योगेन*, बूढ़े गोपाल और गौरी-माँ भी गये थे। इनके आगमन से मातंगिनी देवी परम आह्लादित हुई थीं।[९]

६. आनन्द धाम की ओर, पृ. २०३-०४ (२५ दिसम्बर, १९२९)

७. आनन्द धाम की ओर, पृ. २०३-०४

८. ब्रह्मानन्द चरित, पृ. ७७

इसी यात्रा के समय एक अत्यन्त रोचक घटना हुई थी, जो गौरी-माँ की जीवनी में वर्णित हुई है। लिखा है कि एक बार स्वामीजी – योगानन्द तथा अद्वैतानन्द के साथ पैदल तारकेश्वर में शिवजी का दर्शन करने जा रहे थे। साथ में गौरी-माँ भी थीं। मार्ग में एक तालाब की सीढ़ियों पर बैठकर गौरी-माँ ने अपने दामोदर शिला का पूजन किया और उन्हें भोग लगाया। उन लोगों को देखकर गाँव की कुछ महिलाएँ वहाँ आकर उनसे परिचय तथा बातचीत करने लगीं। थोड़ी देर बाद उन लोगों ने गौरी-माँ से पूछा, "अच्छा, ये लोग आपके कौन लगते हैं?" उन्होंने उत्तर दिया, "ये मेरे पुत्र हैं।" उनमें अद्वैतानन्दजी की आयु अधिक थी, अत: एक ने उनकी ओर इंगित करके पूछा, "तो माँ, ये बूढ़े साधु भी क्या आपके पुत्र हैं?" गौरी-माँ ने गम्भीर स्वर में कहा, "यह मेरी सौत का बेटा है।" बाद में रास्ता चलते समय स्वामीजी ने इस घटना पर विनोद करते हुए कहा, "भाग्यवश मैं वृद्ध नहीं हुआ, नहीं तो मुझे भी इनका सौतेला पुत्र बनना पड़ता।"[१०]

१८८७ वैद्यनाथ-सिमुलतला

वराहनगर के शुरू के प्राय: डेढ़ वर्ष १८८७ ई. के अन्त तक स्वामीजी ज्यादा बाहर नहीं जाते – मठ में ही रहा करते थे। हाँ, स्वास्थ्य-लाभ हेतु कुछ थोड़े दिनों तक मात्र दो -तीन जगह हो आए थे। १८८७ ई. की गर्मियों में वे बीमार हो गए थे। रोगमुक्त होने पर वे गुरुभाइयों के अनुरोध पर जलवायु परिवर्तन हेतु वैद्यनाथ और सिमुलतला गए थे।[११]

प्रथम वाराणसी-यात्रा (१८८७)

१८८७ ई. के अन्त में उन्होंने सुदीर्घ भ्रमण का संकल्प लेकर मठ से प्रस्थान किया और कई स्थानों पर ठहरते हुए कलकत्ते से ४२९ मील दूर स्थित पुण्यतीर्थ वाराणसी जा पहुँचे। यहाँ पर वे श्री द्वारकादास के आश्रम में ठहरे थे। उनके साथ स्वामी प्रेमानन्द और बलराम बोस के गुरुवंश में उत्पन्न तथा उनके पुत्र रामबाबू के गृह-शिक्षक यज्ञेश्वर भट्टाचार्य (फकीर) भी वहाँ आये थे। यह नगरी अतीव पुरा काल से ही साधु-सन्तों के पुनीत संस्पर्श से धन्य हो चुकी है। भगवान बुद्ध, आचार्य शंकर तथा महाप्रभु चैतन्य जैसे आचार्य भी अपने सन्देश का प्रचार करने के पूर्व मानो ईश्वर की अनुमति लेने पहले यहीं आये थे। इन ऐतिहासिक घटनाओं का स्मरण करके उनकी दिव्य चेतना प्रदीप्त हो उठी। ब्रह्मवारि गंगाजी का प्रवाह वहाँ के परिवेश को आध्यात्मिक पवित्रता से ओतप्रोत कर देता है। पूजा-पाठ, जप-ध्यान आदि में निरत असंख्य नर-नारियों, हजारों मन्दिरों तथा विश्वनाथ-अन्नपूर्णा के विग्रह का दर्शन कर उनके मन-प्राण अलौकिक आनन्द से अभिभूत हो उठे। स्वामीजी वहाँ व्याप्त त्याग एवं भक्ति के भाव से अभिभूत हो उठे। विश्वनाथ के आनन्द-कानन काशी में इस बार उन्होंने एक सप्ताह निवास किया था।

बन्दरों की घटना

वहाँ पर एक दिन प्रात:काल वे दुर्गा-मन्दिर में दर्शन करने जा रहे थे। मार्ग में चलते समय एक बड़ी ही शिक्षाप्रद घटना घटी, जिसका वर्णन करते हुए उन्होंने बाद में अमेरिका अपने एक व्याख्यान में कहा था, "एक बार मैं बनारस में एक रास्ते से गुजर रहा था। वहाँ एक ओर एक विशाल तालाब और दूसरी ओर एक ऊँची दीवार थी। वहाँ बहुत-से बन्दर थे। काशी के बन्दर बड़े शैतान और कभी-कभी खूब उत्पाती होते हैं। उन्होंने निश्चय किया कि वे मुझे उस रास्ते से नहीं जाने देंगे, अत: जब मैं उधर पहुँचा, तो वे चीखते-चिल्लाते हुए मेरे निकट आने लगे। उनको पास आया देखकर मैं भागने लगा, पर मैं जितनी तेजी से दौड़ता, वे उससे भी अधिक वेग से आते हुए दाँत निकालकर किचकिचाने लगे। उनके चंगुल से बच निकलना मुझे असम्भव-सा लग रहा था। सहसा तभी एक अपरिचित व्यक्ति ने मुझे आवाज दी, 'बन्दरों का सामना करो।' ज्योंही मैं पलटकर उनके सामने खड़ा हुआ, त्योंही वे पीछे हटकर भाग गये। जीवन में हमें यही शिक्षा लेनी होगी – जो कुछ भयानक है, उसका डटकर सामना करना होगा, साहसपूर्वक उसके सामने खड़ा होना पड़ेगा। जैसे बन्दरों का डटकर सामना करने पर वे भाग गये, वैसे ही हमारे जीवन में जो भी कठिनाइयाँ आती हैं, उनका सामना करने पर वे भाग जाती हैं। यदि हमें कभी भी स्वाधीनता प्राप्त करनी हो, तो हम प्रकृति से भाग कर नहीं, अपितु उस पर विजय प्राप्त करके ही उसे पा सकेंगे। कायर कभी विजयी नहीं हो सकता। हमें भय, कष्ट और अज्ञान के साथ संघर्ष करना होगा, तभी वे हमारे सामने से भागेंगे। मृत्यु क्या है? आतंक क्या है? उन सबमें क्या तुम्हें प्रभु का मुख नहीं दिखायी देता? दुख, कष्ट और आतंक से भागकर देखो – वे तुम्हारा पीछा करेंगे; परन्तु उनके सामने खड़े हो जाओ, तो वे स्वयं भाग खड़े होंगे।"[१२]

भूदेव मुखोपाध्याय

द्वारकादासजी के आश्रम में स्वामीजी की कई संन्यासियों तथा विद्वानों से भेंट हुई। वहीं उनका बंगाल के सुप्रसिद्ध

* जनवरी १८८७ में योगेन महाराज वृन्दावन में थे। वे वर्ष के मध्य तक कलकत्ते लौटे। अत: सम्भवत: है यह यात्रा १८८७ के उत्तरार्ध में हुई हो।

९. ब्रह्मानन्द चरित, पृ. ७७; The Life of Swami Vivekananda, His Eastern & Western Disciples, Vol.I (1995) p. 211

१०. गौरी-माँ (बँगला ग्रन्थ), कलकत्ता, द्वि.सं., पृ. १५६

११. युगनायक विवेकानन्द, भाग १, पृ. २०४; The Life of Swami Vivekananda, Vol.I (1995) p. 211

१२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. २९७-९८; स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण, भगिनी निवेदिता, कलकत्ता, प्र.सं., पृ. ५२

विद्वान् तथा लेखक भूदेवचन्द्र मुखोपाध्याय से परिचय हुआ। पण्डितजी ने स्वामीजी के साथ विभिन्न हिन्दू आदर्शों पर सुदीर्घ चर्चा की। विदा लेते समय भूदेवबाबू ने कहा था, "अद्भुत्! इतनी कम आयु में ही ऐसा विस्तृत ज्ञान और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि! मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि आगे चलकर ये एक महान् व्यक्ति होंगे।"

त्रैलंग स्वामी

वे मन्दिरों तथा मठों में रहनेवाले सुप्रसिद्ध सन्त-महात्माओं का दर्शन करने गये। उन्होने गंगातट पर रहकर मौन धारण करके सदैव आत्मध्यान में तल्लीन रहनेवाले त्रैलंग स्वामी का भी दर्शन किया। स्वामीजी ने उन्हें प्रणाम करके उनकी चरणधूलि ली। इसके कुछ काल बाद १८८७ ई. में ही त्रैलंग स्वामी ने देहत्याग कर दिया था। अब भी वाराणसी के पंचगंगा घाट पर वेणीमाधव-मन्दिर के पास एक पतली गली में उनका मन्दिर है, जिसमें एक विशाल शिवलिंग तथा उनकी मूर्ति स्थापित है।

१८६८ ई. में श्रीरामकृष्ण ने इन महापुरुष का दर्शन करने के बाद कहा था, "इनमें सच्चे परमहंस के लक्षण विद्यमान हैं, ये साक्षात् विश्वनाथ हैं।" श्रीरामकृष्ण ने पूछा था, "ईश्वर एक है या अनेक?" त्रैलंग स्वामी उन दिनों मौन धारण किये हुए थे, अत: इशारे से बताया, "यदि समाधिस्थ होकर देखो, तो वे एक हैं; अन्यथा जब तक मैं, तुम, जीव, जगत् आदि नाना प्रकार के ज्ञान विद्यमान हैं, तब तक वे अनेक हैं।" एक दिन श्रीरामकृष्ण खीर बनवाकर साथ ले गये और अपने हाथों से उन्हें खिलाया।"

स्वामी भास्करानन्द से भेंट

वाराणसी के विद्वान् साधु स्वामी भास्करानन्द का नाम उन दिनों सारे भारत में विख्यात हो रहा था। स्वामीजी एक दिन उनका भी दर्शन करने गये। वे अपने शिष्यों तथा भक्तों से घिरे हुए बैठे थे। स्वामीजी ने उन्हें प्रणाम करने के बाद आसन ग्रहण किया। नरेन्द्रनाथ के शरीर की मनोहर कान्ति से वे आकृष्ट हुए। संन्यास-जीवन के आदर्श पर चर्चा उठने पर इन तरुण संन्यासी को उपदेश देते हुए भास्करानन्द जी बोल उठे, "कोई भी काम-कांचन का पूरी तौर से त्याग नहीं कर सकता।" स्वामीजी को यह बात गले नहीं उतरी, क्योंकि उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण काम-कांचन-त्याग के साकार विग्रह थे और उनका उपदेश था कि ईश्वर-प्राप्ति के लिये काम-कांचन-त्याग परम आवश्यक है। उन्होंने अपने शिष्यों को अपने जीवन तथा उपदेशों द्वारा यही दिखाया और सिखाया था। अत: स्वामीजी ने आपत्ति प्रकट करते हुए कहा, "महाराज, यह आप क्या कहते हैं? वही तो संन्यास-धर्म की नींव है।" इस पर भास्करानन्द जी ने मृदु हास्य के साथ कहा, "तुम अभी निरे बालक हो, इस आयु में तुम यह बात नहीं समझ सकोगे!" स्वामीजी ने दृढ़ स्वर में कहा, "मैंने एक ऐसे व्यक्ति को अपनी स्वयं की आँखों से देखा है।" उनकी तेजयुक्त वाणी को सुनकर भास्करानन्द जी तथा अन्य उपस्थित लोग बड़े विस्मित हुए। जिनके चरणों में राजा-महाराजा, धनी-मानी, पण्डित-ज्ञानी सभी नतमस्तक होते थे, उनके समक्ष तर्क में अग्रसर होना बड़े साहस की बात थी। भास्करानन्द जी बड़े उदार संन्यासी थे। वे स्वामीजी की बातों से विशेष सन्तुष्ट हुए और उनके सामने ही अपने शिष्यों तथा अन्य उपस्थित लोगों से कहा, "इसके कण्ठ में सरस्वती विराजमान हैं, इसके हृदय में ज्ञानालोक प्रदीप्त हुआ है।" वैसे स्वामीजी उन दिनों तर्क आदि करने की मन:स्थिति में न थे, अत: वहाँ से उठकर चल पड़े।

वर्षों बाद स्वामीजी के एक गुरुभाई स्वामी निरंजनानन्द तथा शिष्य स्वामी शुद्धानन्द उनका दर्शन करने गये थे। परिचय मिलने पर उन्होंने दोनों का खूब आदर-सत्कार किया था। शुद्धानन्द के दोनों हाथ पकड़कर भास्करानन्द जी ने उनसे सविनय अनुरोध किया कि एक बार वे उनकी स्वामीजी के साथ मिलने की व्यवस्था कर दें। निरंजनानन्द जी को भी स्वामीजी का गुरुभ्राता जानकर भास्करानन्द जी ने एक दिन उन्हें सम्मानपूर्वक भोजन कराया और उनसे भी स्वामीजी के साथ एक बार भेंट करवाने का आग्रह किया। निरंजनानन्द जी ने इस विषय में स्वामीजी को एक पत्र भी लिखा था। बाद में बेलूड़ मठ में शुद्धानन्द के मुख से भास्करानन्द जी के इस आग्रह की बात सुनकर, स्वामीजी ने खूब विनयपूर्वक उन्हें संस्कृत में एक पत्र लिखा था। परन्तु उनकी दुबारा भेंट सम्भव नहीं हो सकी थी। अस्तु।

सारनाथ-दर्शन

एक दिन वे सारनाथ-दर्शन को भी गये। यहीं मृगदाव में बुद्धदेव ने मानवता के प्रति अपना प्रथम सन्देश देकर धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था। उन दिनों वहाँ के भग्न स्तूप तथा प्राचीन मठ आदि खण्डहरों के रूप में ही विद्यमान थे और चारों ओर फैले जंगलों से आच्छन्न थे। पहले से ही बौद्ध-साहित्य का विस्तृत अध्ययन किये होने के कारण उनकी कल्पना-नेत्रों के समक्ष हजारों वर्ष पूर्व की दृश्यावली मानो साकार हो उठी।

वापस कलकत्ता

इस प्रकार वाराणसी में कुछ दिन बिताकर वे वराहनगर मठ लौट आये और पूर्ववत् अपना समय ध्यान-धारणा, स्वाध्याय तथा धर्मचर्चा में बिताने लगे। ❖ (क्रमश:) ❖

१३. युगनायक विवेकानन्द, भाग १, पृ. २०५-०६; स्वामीजीर पदप्रान्ते (बँगला ग्रन्थ), सं. १९८३ पृ. २४

प्रेरक कथाएँ

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा', 'काठियावाड़ की कथाएँ' तथा महाभारत की कुछ कथाओं का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है। उनके 'भक्तितत्त्व' ग्रन्थ से कुछ रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का सम्पादित रूप क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

१. रंका और बंका

(तीव्र वैराग्य और निष्काम भक्ति)

रंका और उसकी पत्नी बंका पण्ढरपुर नगर में रहते थे। वे छोटी जाति के, अशिक्षित और अत्यन्त निर्धन थे, अत: सभी उनके प्रति तिरस्कार का भाव रखते थे, परन्तु उनमें तीव्र वैराग्य और निष्काम भक्ति होने के कारण भगवान उनसे बड़े प्रसन्न थे। वे प्रतिदिन जंगल में सूखी लकड़ियाँ बटोरते और उनका भारी गट्ठा बनाकर बाजार में लाकर बेच देते। उससे जो कुछ मिल जाता, वे उसी में सन्तोष मानकर शान्ति-पूर्वक अपना जीवन बिताते थे। पेट का भाड़ा चुकाने के बाद बचा हुआ सारा समय वे ईश-स्मरण में ही बिताते।

उन्हीं दिनों पण्ढरपुर में नामदेव नाम के एक सिद्ध महापुरुष निवास करते थे। रंका और बंका की अभाव तथा दुख से पूर्ण अवस्था देखकर उनके हृदय में दया उत्पन्न हुई। एक दिन उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि वे दुखियों के दुख को दूर कर दें। भगवान ने देववाणी द्वारा उत्तर दिया, "नामदेव ! रंका और बंका तीव्र वैराग्य से युक्त हैं, ये धन नहीं लेंगे। यदि तुम्हें विश्वास न होता हो, तो ये लोग जिस जंगल में लकड़ी काटने जाते हैं, कल वहीं जाकर देख लेना।"

अगले दिन नामदेव भगवान द्वारा निर्दिष्ट जंगल में जा पहुँचे। नामदेव ने देखा कि उस जंगल के रास्ते के बीचो-बीच भगवान ने बहुत-सी सोने की मोहरें डाल दी थीं। थोड़ी देर बाद रंका और बंका लकड़ी इकट्ठा करने उसी रास्ते से निकले – आगे-आगे रंका और उसके पीछे बंका। बंका थोड़ा पीछे रह गयी थी। रास्ते में पड़ी हुई मोहरें देखकर रंका का विचार करने लगा, "बंका मेरे पीछे आ रही होगी। यदि कहीं वह इन सोने की मोहरों को देखकर ललचा जाय, तो हमारी भक्ति में भारी विघ्न आ पड़ेगा। उसी भय से उसने थोड़ा-सा धूल उठाया और उसी से उसने सोने की मोहरों को ढक दिया। इतने में बंका भी आ पहुँची। उसने अपने पति से पूछा, "हाथ में धूल भरकर तुम क्या कर रहे थे?"

रंका को उसे सब कुछ सच-सच बताना पड़ा। सुनकर परम वैराग्यवती बंका खिलखिला कर हँसने लगी और बोली, "सोने की मोहरों और धूल में भला क्या भेद है? तुमने नाहक ही मिट्टी-से-मिट्टी को ढकने का कष्ट उठाया !"

अपनी पत्नी के ऐसे शब्द सुनकर रंका को बड़ा समाधान तथा आनन्द मिला। वह कहने लगा, "तेरे वैराग्य के सामने मेरा वैराग्य तो कुछ भी नहीं है !"

यह देख सन्त नामदेव को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे मन-ही-मन कहने लगे, "प्रभो ! जिस पर तुम्हारी कृपादृष्टि हो जाती है, वे तीनों लोकों की धन-सम्पदा देखकर भी नहीं ललचाते। तुम्हारे सिवाय किसी भी अन्य वस्तु की उनको इच्छा ही नहीं होती। जिसने एक बार भी तुम्हारा प्रेमामृत चख लिया है, उसे क्या कभी संसार-रूपी गुड़ खाने की इच्छा होगी?"

सन्त नामदेव के विश्वास को और भी पक्का करने हेतु भगवान ने सूखी लकड़ियों का एक भारी गट्ठा रंका और बंका के रास्ते में ही रख दिया था, ताकि उन्हें लकड़ी जुटाने का कष्ट न उठाना पड़े। परन्तु उन्होंने सोचा कि ये लकड़ियाँ किसी दूसरे ने काटकर रखी होंगी, अत: उन्हें हाथ तक नहीं लगाया। जंगल में आसपास सूखी लकड़ियाँ न मिलने के कारण उस दिन वे दोनों बिना लकड़ियों के ही घर लौटे और मन में विचार करने लगे, "अहो ! इन सोने की मुद्राओं के दर्शन-मात्र से ही आज उपवास करने की नौबत आ गई। यदि वे मुद्राएँ ले आते, तो न जाने कौन-सी आफत आती !"

ऐसा वैराग्य और प्रेमभक्ति देखकर भगवान भला स्थिर कैसे रह पाते? उन्होंने प्रसन्न होकर दोनों को दर्शन दिया।

२. तिरुप्पान आलवार

(यथार्थ भक्त भगवान के स्वरूप ही है)

तिरूप्पन आलवार का जन्म दक्षिण भारत में डराडर गाँव में हुआ था। वे जाति के चाण्डाल थे, परन्तु सर्वदा वीणा बजाते हुए प्रभु के नाम-गुणों का कीर्तन करते रहते थे। कभी-कभी तो वे इतने गहरे भाव में निमग्न हो जाते कि उनकी बाह्य चेतना ही लुप्त हो जाती। एक दिन वे ऐसी ही अवस्था में, श्री रंगनाथ स्वामी मन्दिर को जाने वाले रास्ते के सामने, कावेरी नदी के तट पर बैठे हुए थे। इतने में मुनि नामक उस उस मन्दिर का पुजारी वहाँ आया और भगवान की पूजा करने के लिये नदी में से जल लेकर वापस जाने लगा। परन्तु मार्ग में तिरुप्पान को बैठा हुआ देखकर उन्होंने हट जाने को कहा, परन्तु भावमग्न होने के कारण उन्हें कुछ भी सुनाई नहीं दिया। उन्हें जगाने के लिए पुजारी ने एक बड़ा

पत्थर उठाकर उन पर फेंका। पत्थर लगने से उनकी चेतना थोड़ी लौटी और वे पुजारी से क्षमा माँगकर धीरे-धीरे वहाँ से चले गये। मन्दिर में आकर पुजारी ने देखा, तो द्वार अन्दर से बन्द थे! पुजारी ने सोचा कि कोई भीतर होगा, अतः द्वार खोलने के लिए वह जोर-जोर से पुकारने लगा। मन्दिर के सारे पुजारी वहाँ एकत्र हो गए, परन्तु दरवाजा नहीं खुला। प्रभु को स्नान कराने का समय भी निकलने लगा; अब मुनि के मन में आया कि उसके किसी महान् अपराध के कारण ही भगवान उस पर नाराज हुए हैं। वह रोते-रोते कहने लगा, "प्रभो! आप मेरे किस अपराध के लिए क्रोधित हुए हैं? मेरी भूल के लिए मुझे क्षमा कीजिये।"

बहुत समय तक प्रार्थना करने के बाद उसे भगवान का उत्तर सुनाई दिया, "मुनि! आज तूने मुझे पत्थर से मारा है, अतः अब मैं तुम्हें अपने पास नहीं आने दूँगा।"

मुनि ने विस्मित होकर पूछा, "प्रभो! मैंने आपको पत्थर कब मारा? मुझे तो ऐसा कुछ भी याद नहीं आता।"

प्रभु ने उत्तर दिया, "कावेरी नदी के किनारे जो महापुरुष ध्यान में बैठा था, वही मेरा दूसरा मूर्तिरूप है। तूने उसे जो पत्थर मारा, वह मुझे ही लगा है। जब तू उसे अपने कन्धे पर बैठाकर सात बार मेरे मन्दिर की प्रदक्षिणा करेगा, तभी मैं तुम्हें क्षमा करूँगा।" सुनते ही मुनि तत्काल कावेरी की ओर दौड़ा और तिरुप्पान को वहाँ देखकर भक्तिपूर्वक नम्रभाव से उसकी ओर जाने लगा; परन्तु तिरुप्पान तो उसे देखते ही दूर भागते हुए कहने लगा, "महाराज, मैं हीन चाण्डाल जाति का हूँ। मेरे अपराध के लिये मुझे फिर मारना हो, तो दूर से ही पत्थर मारिये। आप पवित्र हैं, इसलिए मेरा स्पर्श न करें!"

परन्तु इतने में पुजारी मुनि ने जाकर उनके पैर पकड़ लिए और चरणों में सिर रख दिया। उसके बाद उसने उनको अपने कन्धे पर बैठाकर मन्दिर ले गया और सात प्रदक्षिणाएँ की! इसके बाद मन्दिर के द्वार अपने आप खुल गए! तिरुप्पान आलवार को सब लोग भगवान की दूसरी मूर्ति समझकर उनकी वन्दना करने लगे और उसी दिन से वे मुनिवाहन के नाम से विख्यात हुए।

३. असाधु में से साधु

(महापुरुष या ईश्वर के कृपाकण से ही परिवर्तन)

भगवान की कृपा कब और कैसे होगी – यह मानवीय बुद्धि से नहीं जाना जा सकता। आज हम जिसे दुष्ट या बुरा देख रहे हैं, वही व्यक्ति कल भगवत्कृपा से पवित्र सन्त बन जाता है। ऐसे अनेक दृष्टान्त भक्ति-ग्रन्थों में देखने में आते हैं। ऐसा ही एक सुन्दर उदाहरण 'भक्तमाल' में वर्णित है।

एक राजा का भंगी, एक रात को चोरी करने के लिए उसके महल में गया। जिस समय राजा के शयनगृह के पास वह मौका देख रहा था, उसी समय रानी राजा से कह रही थी, "अब अपनी बड़ी कन्या का विवाह कर देना चाहिए।' राजा बोले, "मैं योग्य वर मिलने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

रानी ने हठ किया, "नहीं, नहीं, बहानेबाजी नहीं चलेगी। अब तुम जल्दी-से जल्दी उसका विवाह कर डालो।"

आखिरकार राजा ने वचन देते हुए कहा, "कल प्रातःकाल तपोवन में जाते समय जिस योगी के साथ मेरी पहली भेंट होगी, उसी के साथ मैं अपनी कन्या का विवाह कर दूँगा और उसे अपने आधे राज्य का स्वामी भी बना दूँगा।"

यह सुनकर चोर-भंगी ने विचार किया, "चोरी का यह काम तो खतरों से भरा हुआ है, क्योंकि पकड़े जाने से मरना पड़ेगा, इससे तो यह योग लगाना ही बड़ा आसान है। कल मैं योगी का वेश बनाकर तपोवन के मार्ग पर समाधि लगाकर बैठ जाऊँ, तो अनायास ही राजकन्या से विवाह हो जायगा और आधा राज्य भी मिल जायगा। ऐसा हो जाय, तो मेरी जीवन भर की समस्याओं का भी अन्त हो जायगा।"

उस रात वह बिना चोरी किया लौट गया और योगी का वेश धारण करके तपोवन के रास्ते पर जा बैठा।

राजा भी अपने वचन के अनुसार प्रातःकाल वर की खोज में तपोवन के रास्ते पर चल पड़े। सर्वप्रथम उस नकली योगी पर ही उनकी दृष्टि जा पड़ी। उसको परम योगी जानकर राजा ने उसके निकट जाकर साष्टांग प्रणाम किया और योगी के ध्यान भंग होने की प्रतीक्षा करते हुए वहीं बैठे रहे। बड़ी देर बाद नकली साधु ध्यान से उठा। राजा ने उसके चरणों में पड़कर महल में पधारने का अनुरोध किया। योगी ने स्वीकृति प्रदान की और वह राजा के साथ महल में जा पहुँचा। राजा ने उसे अपने सिंहासन पर बैठाया और पैर धोकर चरणामृत लिया। रानी उसे चँवर डुलाने लगी और अन्य नौकर भी तरह-तरह से उसके आदर-सत्कार में लग गये। इसके बाद राजा ने उनसे अपनी कन्या तथा आधा राज्य स्वीकार करने का अनुरोध किया। यह सब देख उस ढोंगी के मन में सहसा बदलाव आया। वह विचार करने लगा, "जब योगी का वेश मात्र धारण करने से ऐसे महान् राज्य के स्वामी ये राजा और रानी मेरे पाँवों पड़ते हैं, तो यदि मैं सच्चा योगी बनूँ, तो मेरी स्थिति कितनी ऊँची हो जायगी!"

इस विचार-शृंखला के फलस्वरूप उसके मन में सांसारिक विषय-सुख भोगने की जगह सच्चे त्यागी का जीवन बिताने की प्रबल इच्छा का उदय हुआ। भगवान की यह लीला देखकर उसकी आँखें डबडबा आयीं। अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ वह सिंहासन से उठ खड़ा हुआ और भगवान का नाम लेते हुए जंगल की ओर चला गया। अहो! भगवत्कृपा का कैसा

प्रभाव है ! उसके हृदय में दुष्टबुद्धि का नाश होकर शुद्धभाव का संचार हुआ और वह सच्चा भक्त बनकर कृतार्थ हुआ।

उपनिषद् में भी कहा है – "**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणते तनु स्वाम् ।** – जिस पर आत्मा अर्थात् अन्तर्यामी की कृपा होती है, वही उसे प्राप्त करता है और उसी के समक्ष आत्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है।"

४. भक्त यवन हरिदास

(विपत्ति में भी अडिग श्रद्धा और अपूर्व क्षमा)

हरिदास जी का जन्म बंगाल के किसी प्रतिष्ठित मुसलमान कुटुम्ब में हुआ था। उनका मूल मुसलमानी नाम कोई नहीं जानता। छोटी उम्र में ही वे हरिनाम-संकीर्तन सुनकर आनन्द से विभोर हो उठते थे। उनके माता-पिता उन्हें बारम्बार समझाते, परन्तु हरि-कीर्तन के प्रति उनका लगाव दूर नहीं हो सका। आयु बढ़ने पर उनका स्वभाव नहीं बदला। इस पर चिढ़कर उनके माता-पिता ने उन्हें घर से निकाल दिया। वे गाँव के बाहर जंगल में जाकर एक गुफा में रहने लगे। इस बात की खबर फैलने पर उस गाँव के मुसलमान उनके पीछे पड़ गए और कई तरह से उन्हें परेशान करने लगे, परन्तु हरिदास जी की भगवन्नाम में श्रद्धा दिनो-दिन बढ़ती रही। उनके विरोधियों ने उस गाँव के जमींदार को उकसाकर – हरिदास जी को विचलित करने के लिए रात के समय एक सुन्दर वेश्या को उनकी गुफा की ओर भेजा। हरिदास जी के पास जाकर वह वेश्या अनेक प्रकार के हावभाव दिखाने लगी और सत्संग के बहाने उन्हें बातचीत में उलझाने का प्रयत्न करने लगी। हरिदास जी बोले, "बहन ! जरा-सा ठहर जाओ। नियमानुसार अपना जप पूरा करने के बाद मैं तुम्हारे साथ बातचीत करूँगा।" उन दिनों वे हर रात अपने इष्टमंत्र का तीन लाख जप किया करते थे। अत: उनका जप पूरा होने से पहले ही सुबह हो गयी। वेश्या को उदास-चित्त के साथ उस दिन वहाँ से वापस लौट आना पड़ा।

वह हर रात इसी प्रकार प्रयास करती रही। तीसरी रात हरिदास जी भगवन्नाम जपते हुए जोरों से 'हरि-हरि' का उच्चारण करने लगे। वेश्या भी अनजाने ही उनके साथ-साथ हरिनाम बोलने लगी। इसका उसके चित्त पर जबरदस्त असर हुआ और वह विचारने लगी, "अरे ! सैकड़ों लोग अपनी दुष्ट-वासना की पूर्ति के लिये लालायित होकर मेरे पास आते रहते हैं, परन्तु इनको तो मेरी उपस्थिति तक का ख्याल नहीं ! अहा ! हरिनाम में इन्हें कितना अधिक रस मिलता होगा कि इनका चित्त आठों पहर उसी में रमा रहता है।"

ऐसे विचारों से उस वेश्या का अन्त:करण शुद्ध-पवित्र हो गया और वह हरिदास जी के चरणों में पड़कर उनसे अपने अपराध के लिए क्षमा माँगने लगी। हरिदास जी ने प्रसन्न होकर उसको मंत्रदीक्षा के साथ उपदेश दिया, "अपने अब तक की पापकर्मों की कमाई किसी अच्छे काम में लगा दे और बाकी सारा जीवन प्रभु के भजन में बिता दे। ऐसा करने से तेरा सम्पूर्ण कल्याण होगा।"

अपनी इस युक्ति में अफसल हो जाने से वे मुसलमान गाँव के काजी की अदालत में गए और फरियाद की कि मुसलमान होकर भी हरिदास ने हिन्दू धर्म को स्वीकार किया है, अत: इस अपराध के लिये उसे सजा मिलनी चाहिए। धर्मान्ध काजी ने हरिदास जी को पकड़कर कारागार में डाल दिया, परन्तु वहाँ भी उनकी वही एक ही धुन ! इसके बाद काजी ने अपने कानून के अनुसार उन्हें दण्ड देने के लिए उन्हें अपने सामने बुलवाकर पूछा कि उसने मुसलमान होकर भी काफिर का धर्म क्यों अपनाया है? उत्तर में हरिदास जी बोले, "ईश्वर एक, अखण्ड और अव्यय है; हिन्दू तथा मुसलमान के ईश्वर एक ही हैं, अलग-अलग नहीं। भिन्न-भिन्न नामों से लोग उन्हीं को पुकारते है। भगवान कृपा करके जिसे जैसी प्रेरणा देते हैं, वह उसी के अनुसार कार्य करता है। हिन्दू के रूप में जन्म लेने पर भी बहुत-से लोग मुसलमान हो जाते हैं, उसी प्रकार मुसलमान के घर में जन्म लेकर भी यदि मैं हिन्दू हो गया, तो इसमें क्या दोष है?"

हरिदास जी का उत्तर सुनकर काजी को सन्तोष तो हुआ, परन्तु दूसरे धर्मान्ध मुसलमानों को शान्त करने के लिए उसने उनको सजा दी – इसे बाईस अलग-अलग बाजारों में ले जाकर सबके सामने कोड़े लगाओ।

तदनुसार सिपाही उन्हें प्रत्येक बाजार में ले जाकर कोड़े मारने लगे। इस प्रहार से उनके शरीर से रक्त की धाराएँ बहने लगीं और सारे शरीर से मांस के लोथड़े उतरने लगे, परन्तु हरिदास जी ने हरिनाम बोलना नहीं छोड़ा। उनका ऐसा हाल देखकर लोगों को बड़ा दु:ख हुआ। हरिदास जी अन्त में बेहोश होकर जमीन पर गिर गए और उनको मरा हुआ समझकर सिपाहियों ने उन्हें नदी में फेंक दिया। थोड़ी देर पानी में उतराने के बाद हरिदास जी को होश आया और नदी में बाहर निकलकर वे फिर काजी के पास गए, उनको देखकर काजी को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्हें एक सच्चा महापुरुष जानकर उनसे माफी माँगी। परन्तु हरिदास जी बोले, "मैंने तो पहले ही तुम्हारे लिए प्रभु से माफी माँगी ली है, क्योंकि तुमने अज्ञानता के कारण ही ऐसा कार्य किया था।"

इसके बाद हरिदास जी नवद्वीप जाकर महाप्रभु भगवान चैतन्य से मिले और अपने जीवन के अनेक वर्ष उन्हीं के सान्निध्य में बिताये। अन्त में, उन्होने जगन्नाथ-पुरी में जाकर वहीं समाधि में शरीर छोड़ा। ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी अचलानन्द (३)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

उन दिनों राजपुताना के किशनगढ़ में भयंकर अकाल पड़ा हुआ था। स्वामी कल्याणानन्द वहाँ दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सेवा में लगे हुए थे। सहसा उनके बीमार पड़ जाने से वहाँ के सेवाकार्य में बाधा आने की सम्भावना हो गयी। उन्होंने जब चारुचन्द्र को इस बात की सूचना दी, तो वे दौड़कर क्षेमेश्वर घाट गये और केदारनाथ को वह पत्र दिखाया। केदारनाथ ने किशनगढ़ जाकर कल्याणानन्द के कार्य में सहायता करना अपना कर्तव्य माना और चारुचन्द्र से यह लिख देने को कहा कि वाराणसी से एक आदमी आ रहा है।

केदारनाथ किशनगढ़ पहुँचकर कल्याणानन्द की सेवा-वाहिनी में सम्मिलित हो गये। परन्तु वहाँ घोर परिश्रम के फलस्वरूप थोड़े दिनों बाद ही उनका भी स्वास्थ्य बिगड़ गया – खूनी आँव के रोग से बुरी तरह से ग्रस्त होकर वे बिस्तर पकड़ने को बाध्य हुए। कल्याणानन्द बड़ी चिन्ता में पड़ गये कि अब क्या किया जाय! कुछ निर्णय कर पाने में असमर्थ होकर उन्होंने केदारनाथ से ही पूछा कि वाराणसी में उनके पिता को तार भेजना उचित होगा या नहीं। केदारनाथ ने कहा कि चारुचन्द्र को इसकी सूचना दे दी जाय। वाराणसी में यह समाचार पाकर चारुचन्द्र विचलित हो गये। उन्होंने अनाथाश्रम के ही एक हितैषी वैद्य महानन्द कविराज से कुछ दवाइयाँ लेकर डाक द्वारा भेज दिया। जो भी हो, उस दवा के सेवन से ही केदारनाथ नीरोग हो गये। किशनगढ़ में रहते हुए ही कल्याणानन्द तथा केदारनाथ को सूचना मिली कि वाराणसी के क्षेमेश्वर घाट के उस पुराने स्थान पर शुद्धानन्द तथा कुछ अन्य लोग आकर दुर्गापूजा का आयोजन कर रहे हैं। इस समाचार से ये लोग भी उत्साहित हुए और घट-स्थापना करके अनाथ बच्चों के साथ दुर्गोत्सव किया था। क्रमश: किशनगढ़ का राहतकार्य समाप्त हो चला। केदारनाथ जयपुर, वृन्दावन, इलाहाबाद, विंध्याचल आदि तीर्थों का दर्शन करते हुए वाराणसी लौट आये। कल्याणानन्द भी वृन्दावन तक इन्हीं के साथ गये थे, परन्तु उसके बाद वे पंजाब के कुछ स्थान तथा हरिद्वार होते हुए वाराणसी आये। केदारनाथ के वृन्दावन रहते ही समाचार मिला था कि स्वामीजी भारत लौट आये हैं। मठ से सारदानन्द जी ने कल्याणानन्द को पत्र लिखा था, "इस समय यदि इच्छा हो, तो तुम लोग आकर स्वामीजी का दर्शन कर सकते हो। केदार भी आ सकता है।"

वाराणसी लौटकर केदारनाथ ने देखा कि अनाथाश्रम का कार्य काफी आगे बढ़ चुका है। स्थानीय विशिष्ट लोगों की सहानुभूति तथा सहयोगपूर्ण दृष्टि क्रमश: इन युवकों के सेवाव्रत की ओर आकृष्ट हो रही थी। इसी दौरान वहाँ के सुप्रसिद्ध जमींदार प्रमदादास मित्र की अध्यक्षता में उन युवकों ने एक कार्यकारिणी समिति का भी गठन कर लिया था। केदारनाथ भी इस समिति के एक विशिष्ट अंग थे। मित्र चारुचन्द्र का अथक उद्यम तथा प्रयास देखकर केदारनाथ ने निश्चय किया कि इस समय बेलूड़ मठ जाने की अपेक्षा वाराणसी में ही रहकर चारुचन्द्र की किंचित् सहायता करना ही अधिक उत्तम होगा। अत: कल्याणानन्द के मठ चले जाने पर भी केदारनाथ अनाथाश्रम के कार्य से काशी में ही रह गये। इन सभी की अथक सेवा-निष्ठा के फलस्वरूप अनाथाश्रम का कार्य धीरे-धीरे विस्तार को प्राप्त होता रहा। इसीलिये अब वह स्थान छोटा पड़ने के कारण १९०१ ई. के फरवरी में उसे २२७ नं. दशाश्वमेध रोड के एक मकान में स्थानान्तरित करना पड़ा। उसका मासिक किराया १२ रुपये निर्धारित हुआ था। परन्तु क्रमश: बढ़ते जा रहे कार्य को वहाँ भी आबद्ध रख पाना सम्भव नहीं हो सका था। इसी कारण अगले जून के महीने में ही उसे डी ३८/१५३ नं. रामापुरा के एक पुराने किन्तु विशाल भवन में स्थानान्तरित किया गया। इस मकान में १०-१२ रोगियों को रखने की अच्छी व्यवस्था हो गयी। ऊपर की मंजिल में केदारनाथ तथा कुछ अन्य सेवक-कर्मी रहने लगे। ऐसा भी ज्ञात हुआ है कि निरंजनानन्द जी तथा शिवानन्द जी ने इस भवन में पदार्पण करके युवकों को खूब प्रोत्साहित किया था।

स्वामीजी उन दिनों बेलूड़ मठ में निवास कर रहे थे। विभिन्न सूत्रों से उनके कानों में यह समाचार आ रहा था कि वाराणसी के कुछ सेवाव्रती युवकगण उनके भावों को अंगीकार करके वहाँ पर अद्भुत रूप से कार्य कर रहे हैं। वाराणसी से यदि कोई मठ में जाता, तो वे बड़े आग्रहपूर्वक अपने इन नवीन अनुरागियों का समाचार लेते और उनके कार्य की प्रशंसा भी करते। इन युवकों में से एक – यामिनी मजूमदार एक बार स्वामीजी का दर्शन करने बेलूड़ मठ गये थे। यामिनी से बातें करके और उनका आदर्श के प्रति अनुराग देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए थे और कृपा करके उन्हें मंत्रदीक्षा भी प्रदान की थी। यामिनी के मुख से काशी के अनाथाश्रम तथा कर्मी

युवकों के विषय में विस्तारपूर्वक सुनकर स्वामीजी ने उन्हें खूब आशीर्वाद देते हुए कहा था, "ऐसा ही आश्रम भारत के प्रत्येक तीर्थस्थान में होना चाहिये।" इन युवकों पर स्वामीजी की कृपादृष्टि इतनी अधिक थी कि एक बार उन्होंने निर्मलानन्द को भेजकर काशी के अनाथाश्रम का सविस्तार समाचार मँगाया था। एक अन्य समय उन्होंने कहा था, "यहाँ (बंगाल) के लड़कों ने कुछ नहीं किया, खैर काशी के लड़के तो मेरे भाव के अनुसार कुछ काम कर रहे हैं।" काशी के युवकों ने इतने दिनों तक जिन्हें केवल कल्पना के ही नेत्रों से देखा था, अब मानो उनके साक्षात् सम्पर्क ने उन सभी के हृदय को आन्दोलित कर दिया। उस अद्भुत अदृष्ट वैद्युतिक आकर्षण ने अब केदारनाथ को भी बेलूड़ मठ की ओर खींचना आरम्भ कर दिया। उन्होंने अनाथाश्रम से दो सप्ताह की छुट्टी ली और बेलूड़ चले गये। १९०१ का वर्ष था। शारदीय दुर्गापूजा की षष्ठी के दिन केदारनाथ मठ में जा पहुँचे।

केदारनाथ के मठ में आने पर स्वामी ब्रह्मानन्द जी उन्हें साथ ले जाकर उनका स्वामीजी से परिचय करा दिया। उस समय स्वामीजी मठ भवन के दुमंजले पर अपने ही कमरे में विराजमान थे। केदारनाथ ने उनके चरणों में पहुँचते ही उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। मुण्डित-मस्तक, कौपीन-मात्र-धारी, अनन्यभूषण, ज्योतिर्मय सदाशिव के समान उस दिन की स्वामीजी की दिव्य मूर्ति केदारनाथ के मानस-पटल पर चिर काल के लिये अंकित हो गयी। ब्रह्मानन्द जी के मुख से केदारनाथ का परिचय सुनकर उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न-वदन उनसे विविध प्रकार के कुशल प्रश्न किये और वाराणसी का सारा समाचार जान लिया।

स्वामीजी की इच्छानुसार उसी समय मठ में पहली बार दुर्गापूजा का अनुष्ठान हो रहा था। केदारनाथ के जीवन में यह भी एक सौभाग्य की बात थी कि उन्हें स्वामीजी की उपस्थिति में महामाया की अर्चना देखने का अवसर मिल रहा था। इस काल की अनेक स्मृतियाँ परवर्ती काल में उनके मुख से सुनने को मिलती थीं। पूजा के दौरान स्वामीजी अत्यन्त अस्वस्थ हो गये। अष्टमी पूजा के दिन से ही उनका ज्वर बहुत बढ़ गया, सम्भवत: १०५° तक चढ़ता था। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि रोग में इतनी क्षमता न थी कि वह स्वामीजी की आनन्दोज्वल प्रसन्नता को जरा भी धूमिल कर पाता। दुर्गापूजा तथा लक्ष्मीपूजा के बाद अन्त में यथासमय कालीपूजा का भी अनुष्ठान हुआ। केदारनाथ के जीवन में इस दिन का स्मृतिचित्र एक अविस्मरणीय ध्यान की चीज बन गयी थी। उन्होंने स्वयं ही लिखा है, "विशेष समारोह के साथ कालीपूजा सम्पन्न हुई। उस समय जो आनन्द का प्रवाह फूट निकला था, उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। पूजा की रात – प्रथम प्रहर की पूजा आरम्भ होने के पहले ही स्वामीजी पूजा के दालान में ध्यान करने बैठे और थोड़ी ही देर में समाधिमग्न हो गये। उनका बाह्यज्ञान चला गया। काफी काल इसी अवस्था में रहने के बाद, उनकी चेतना लौटने का कोई आभास न देखकर पूजनीय बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) ने उनके कानों में बारम्बार ठाकुर के नाम का उच्चारण किया। इससे उनकी संज्ञा लौट आई।" अब तक केदारनाथ ने समाधि के बारे में केवल सुन रखा था, इसके पूर्व अपनी आँखों से समाधि देखने का उन्हें सौभाग्य नहीं मिला था।

केदारनाथ परम आनन्दपूर्वक स्वामीजी के पुनीत सान्निध्य में मठवास करने लगे। स्वामीजी उनका त्याग-वैराग्य तथा साधन-निष्ठा देखकर उनके प्रति विशेष स्नेह प्रदर्शित करते थे। स्नेहपूर्वक वे उन्हें 'केदार बाबा' कहकर पुकारते थे। काशी से केवल दो सप्ताह ही छुट्टी लेकर केदारनाथ मठ आये थे, परन्तु स्वामीजी के स्नेह-आकर्षण में पड़कर दो सप्ताह कब निकल गया, इसका उन्हें पता ही नहीं चला। स्वामीजी ने अपने अनुरागी भावी शिष्य को और भी कुछ दिन अपने पास ही रहने का आदेश दिया। केदारनाथ ने इस बार नौ महीने मठ में निवास किया था। स्वामीजी की व्यक्तिगत सेवा का अवसर मिलना भी उनकी इस काल की अत्यन्त स्मरणीय घटना है। परवर्ती काल में केदार बाबा अपने अतीत के इन दिनों का स्मरण करते हुए रोमांचित हो उठते थे। स्वामीजी के बारे में बोलते हुए वे भावविभोर हो जाते थे। उनकी स्वामीजी की स्मृति-प्रसंग के कुछ अंश इस प्रकार हैं –

"पूज्यपाद स्वामीजी महाराज का हम लोगों के प्रति कितना प्रगाढ़ स्नेह था, इसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। उसकी गहनता को मापना मेरे लिए निरर्थक प्रयास मात्र है।... उसका केवल अनुभव किया जा सकता है, मुख से या भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता।... श्रीमाँ के पश्चात स्वामीजी के स्नेह ने ही मुझे अभिभूत किया था।... स्वामीजी का स्नेह केवल मनुष्यों तक ही सीमित न था; वह गाय, बकरी आदि इतर प्राणियों को भी अपने दायरे में खींच लेता था।"

मठ में रहते समय एक बार केदारनाथ थोड़ा-सा अस्वस्थ हो गये थे। अत: वे दो-चार दिन स्वामीजी के पास नहीं जा सके। परन्तु स्वामीजी का उनके प्रति कैसा अहेतुक स्नेह था! वे स्वयं ही अपने किसी अन्य सेवक के हाथ से केदार बाबा के लिये अनार या कोई अन्य फल भेज देते। कभी खाते-खाते उनकी याद आ गई, तो तत्काल अपने भोजन का बचा हुआ अंश उनके लिए भेज देते। स्वामीजी की इस शिष्य-वत्सलता का स्मरण करते हुए केदार बाबा ने बाद में एक बार कहा था, "एक घटना के द्वारा उनके प्रेम का उदाहरण दे रहा हूँ। एक बार कानाई महाराज (स्वामी निर्भयानन्द) उनकी सेवा करते-करते उन्हीं के सीने पर ही सिर रखकर निद्रामग्न हो गये। इस भय से कि कहीं सेवक की नींद न टूट जाय, स्वामीजी काफी

देर तक उसी मुद्रा में चुपचाप पड़े रहे। बाद में कानाई महाराज की निद्राभंग होने पर ही स्वामीजी बिस्तर से उठे।''

स्वामीजी ने एक दिन केदार बाबा से कहा, ''बाबा, क्या तू मुझे निद्रा ला सकता है? तू जो चाहेगा, मैं तुम्हें वही दे दूँगा।'' इस स्नेहपूर्ण उक्ति में एक गहन सहानुभूति का अनुभव किया जा सकता है, जिसने केदार बाबा को निश्चित रूप से अभिभूत कर दिया था। स्वामीजी अहेतुक कृपासिन्धु थे। एक दिन वे मठ-भवन की निचली मंजिल के बरामदे में बेंच पर बैठे थे। उनके पास ही शिवानन्द जी भी बैठे थे। केदार बाबा के सामने आते ही स्वामीजी सहसा बोल उठे, ''जा, तुझे कुछ भी न करना होगा। तेरा सब कुछ अपने आप ही हो जायेगा।'' जीवन के अन्तिम दिनों में केदार बाबा ने एक दिन इस घटना को प्रकट करके आवेगरुद्ध कण्ठ से कहा था, ''इसीलिये आज उनकी कृपा से थोड़ा-बहुत समझ पा रहा हूँ। उनकी बात तो निरर्थक नहीं जायेगी। स्वामीजी ने जिससे भी जो कुछ कहा है, वह सब फलीभूत हुआ है। ... कालीकृष्ण महाराज (स्वामी विरजानन्द) को स्वामीजी ने खूब आशीर्वाद दिया था, उनके भीतर शक्ति-संचार किया था। इसीलिये तो आज उनके भीतर इतनी शक्ति का प्रकाश दीख रहा है।''

अपने मठवास की स्मृतिकथा के प्रसंग में केदार बाबा ने कहा था, ''मैं स्वामीजी के खूब पास रहता था, पर कुछ पूछता नहीं था। निवेदिता, ओली बुल, ओकाकुरा आदि कितने ही लोग आते और उनके साथ कई तरह की बातें होतीं। पर मैं अज्ञानी था, ज्यादा कुछ समझता नहीं था। स्वामीजी जब अपने गुरुभाइयों के साथ व्यंग्य-विनोद करते या कभी डाँट-फटकार लगाते, तो मैं अपने हाथ का काम जल्दी से निपटा डालता। कभी-कभी वे स्वयं ही कहते, ''केदार बाबा, हुक्का ले आओ।'' नहीं तो सब उनके इशारे से ही समझ लेता। अहा, मैंने माँ को देखा और फिर स्वामीजी को देखा। जिसे कोई नहीं पूछता था, उसी से ये लोग अधिक स्नेह करते थे। देखो, मुझमें भला क्या गुण है? वे जानते थे कि मेरे द्वारा उनका कोई काम नहीं हो सकता, तो भी न जाने क्यों, मेरे ऊपर उनका इतना अहेतुक स्नेह था! समझ में नहीं आता कि उन्होंने मेरे भीतर क्या देखा था।... स्वामीजी के प्रति ऐसा अदम्य आकर्षण बोध होता! वह एक बड़ी अद्‌भुत बात है। उन दिनों उनकी जरा-सी भी सेवा करने के लिये मन उत्कण्ठित रहता। सीढ़ियों से उतरना-चढ़ना कूद-कूद कर किया करता था।

''एक दिन एक भक्त मुझे अपने साथ दक्षिणेश्वर-तीर्थ जाने के लिये बड़ा आग्रह कर रहे थे। मैं महाराज की अनुमति के बिना कुछ भी नहीं करता था। उनसे पूछने पर वे बोले, ''अरे, कहते क्या हो! मठ में स्वामीजी हैं। उन्हें छोड़कर कहाँ जाओगे? दक्षिणेश्वर तो चिर काल तक रहेगा; वह सब बाद में बहुत होगा, अभी रहने दो।'' सचमुच ही महाराज ने मेरी चंचल बुद्धि को स्थिर करके स्वामीजी की कृपा-प्राप्ति में मेरी सहायता करके मुझे धन्य कर दिया। नहीं तो मेरा संन्यास भी नहीं हो पाता और कौन जाने किस गड्ढे में पड़कर सड़ता रहता! उन दिनों मैं सुबह से ही रात दस बजे तक स्वामीजी के पास ही रहता था। दिन में विश्राम नहीं करता था – बस, स्नान तथा भोजन करने में ही थोड़ा-बहुत समय नष्ट होता।''

१९०२ ई. के जनवरी-फरवरी में स्वामीजी ने कुछ दिन बोधगया में बिताने के बाद वाराणसी की यात्रा की थी। फरवरी के अन्त में श्रीरामकृष्ण के जन्म-महोत्सव के कुछ दिन पूर्व वे बेलूड़ मठ लौट आये। स्वामीजी के पुन: लौट आने पर केदार बाबा द्वारा उनकी सेवा आदि का कार्य पुन: पूर्ववत ही चलने लगा। सभी कार्यों के बीच साधुओं की शास्त्रचर्चा तथा ध्यान-साधना आदि की ओर स्वामीजी की तीक्ष्ण दृष्टि रहा करती थी। केदार बाबा कहते, ''ध्यान-जप के विषय में स्वामीजी बड़े नियमनिष्ठ थे। उनके दिनों में प्रात:काल चार बजे ध्यान का घण्टा बजता था।... उस समय सबको मन्दिर में जाकर ध्यान करना पड़ता था। वे स्वयं भी आकर बैठते।... किसी के न आने पर वे पहली बार उसके कमरे के पास जाकर व्यंग्य के स्वर में कहते, ''ओ संन्यासी बाबुओ! और कितनी देर तक सोओगे?'' वे ध्यान-जप के विषय में इतने नियमनिष्ठ थे कि मन्दिर में जाकर ध्यान न करने पर अच्छी डाँट पिलाते थे।... वे स्वयं भी अन्तिम समय तक खूब ध्यान-धारणा किया करते थे। बीमार रहने पर भी कभी नागा नहीं करते थे।

वहाँ उन्होंने स्वामीजी का इतने रूपों में दर्शन किया था कि उन सबका वर्णन करना असम्भव है। एक दिन स्वामी प्रेमानन्द जी पूजा के आसन पर बैठे हुए थे। उसी समय स्वामीजी वहाँ आ पहुँचे और उन्हें आसन से उठाकर स्वयं बैठ गये। सचन्दन पुष्प लेकर ठाकुर के चरणों में दो-एक बार अर्घ्य देने के बाद ही, वे अपने सिर पर अर्घ्य देने लगे। ऐसा करते-करते वे गहन ध्यान में डूब गये। काफी समय बाद जब उनका ध्यान छूटा, तो वे धीरे-धीरे उस आसन को छोड़कर बाहर आकर खड़े हुए। उस समय उनके लालिमा लिये हुए नेत्रों से निकलती हुई ज्योति, जैसी अभूतपूर्व दीख रही थी, उसे केदार बाबा कभी भूल नहीं सके। जब वे मन्दिर के बाहर निकल कर खड़े होने पर सभी लोगों ने उन्हें साष्टांग प्रणाम करके स्वयं को धन्य महसूस किया था।

एक अन्य स्मृति-चित्र – स्वामीजी का मन उस दिन बड़ी उच्च भूमि पर था। केदार बाबा ने सुना, वे भाव-गम्भीर कण्ठ से कह रहे थे, ''देखना, दो सौ वर्षों बाद विवेकानन्द के एक-एक बाल के लिए लोग व्याकुल हो उठेंगे।''

❖ (क्रमश:) ❖

कर्मयोग – एक चिन्तन (१५)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

गीता में ऐसे कुछ गूढ़ श्लोक हैं, जिसमें मानव जीवन का संपूर्ण दर्शन दिया गया है। मानव जीवन कैसे सार्थक हो सकता है, उसकी चाबी गीता के तृतीय अध्याय के इस ९वें श्लोक में है। उस पर बहुत बड़ी-बड़ी व्याख्यायें लिखी गयीं हैं। आचार्य शंकराचार्य, रामसुखदास महाराज, पंडित गिरीधर शर्मा, लोकमान्य तिलक आदि सब लोगों ने इस महान श्लोक की व्याख्या की है। वह श्लोक है –

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।।

अर्थात् यज्ञ के निमित्त किये जानेवाले कर्मों से अतिरिक्त दूसरे कर्म करने से मनुष्य उन कर्मों में बँध जाते हैं। हे अर्जुन! आसक्ति से रहित होकर उस यज्ञ के निमित्त कर्तव्य-कर्म करो।

मनुष्य को जीवन में कैसे कर्म करना चाहिए, जिससे वह कर्म यज्ञ बन जाय और इसी जीवन में कैसे मुक्ति मिल जाय, यही इस श्लोक में भगवान बता रहे हैं।

इस लोक में यज्ञ के लिये किये गये कर्मों को छोड़कर दूसरे कोई भी कर्म, मनुष्य के लिए बंधन के ही कारण हैं। बंधन का कारण होने से – पुनरपि जननं पुनरपि मरणं होता रहता है। जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़कर हम दुख भोगते रहते हैं। इससे कैसे बचें? भगवान कहते हैं मुक्त संगः समाचारः। अर्थात् जीवन का कोई भी कर्म क्यों न हो, तुम आसक्तिरहित होकर उस कर्म को करो। ऐसा अगर करोगे तो तुम कर्मबन्धन में नहीं पड़ोगे और मुक्त हो जाओगे।

यदि तुम यज्ञ-कर्म को छोड़कर दूसरा कर्म करोगे, तो बन्धन में पड़ोगे। चाहे तुम भगवान की पूजा कर रहा हो, चाहे आश्रम बनवा रहा हो, चाहे मंदिर बनवा रहा हो, या लोककल्याण कर रहा हो, यदि इन सबके पीछे आसक्ति है, तो यह बन्धन का कारण होगा। क्योंकि इसके पीछे अहं या अहंकार का भाव रहता है। अहंकार से आसक्ति होती है। अहंकार में यह बड़ा दोष है कि यह हमको कभी-भी भगवत समर्पण बुद्धि से कार्य करने नहीं देता है। इसलिए हम पचास सोमनाथ के मंदिर भी देशभर में बनवा दें, तो लोक-कल्याण कदाचित हो जाये, किन्तु हमारा तो अकल्याण ही होगा। क्योंकि मेरे मन में भावना होगी कि लोग जाने कि मैंने पचास सोमनाथ के मंदिर देशभर में बनवा दिये। ऐसी भावना और अहंकार हमें आसक्ति से मुक्त नहीं होने देते हैं, बन्धन में डालते जाते हैं।

सामान्यतः यज्ञ शब्द से हमारे सामने यह चित्र आता है कि एक हवनकुंड है। उसके चारों ओर पंडित बैठे हैं। आहुति देने की सामग्री – घी, तेल, लकड़ी आदि सामग्रियाँ हैं। पंडित लोग हवन देने की सामग्रियों को 'स्वाहा' कह कर हवनकुंड में अर्पित कर रहे हैं। प्रायः आप लोग देखते होंगे कि सांसारिक लाभ प्राप्त करने की इच्छावाले लोग ऐसा यज्ञ करते रहते हैं। किसलिए करते हैं? सांसारिक सफलता की प्राप्ति के लिये करते हैं। यह कर्मकांड है। यह यज्ञ का हीन रूप है। किन्तु यज्ञ का इतना ही अर्थ नहीं है। आचार्य गण हमें बताते हैं – इज्यते क्रियते इति यज्ञः – जो कुछ भी कर्म किया जाता है, वह सभी यज्ञ ही है। उपनिषद कहता है – **प्लवाहि एते अदृढाः यज्ञरूपाः**। सकाम भाव से किया गया यज्ञ हमारे जीवन में कभी-भी अनन्त सुख नहीं दे सकता। वह दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति नहीं करा सकता। यह तो निष्काम यज्ञ से ही प्राप्त हो सकती है। भगवान आदि शंकराचार्य की भाषा में यज्ञो वै विष्णुः। यदि हम इस कर्म को भगवत् समर्पण बुद्धि से कर सकें, तो हमारे जीवन का प्रत्येक कर्म यज्ञ हो सकता है।

एकबार भगवान श्रीरामकृष्णदेव से भक्तों ने पूछा – महाराज, गीता का सार क्या है? भगवान ने कहा – दस बार गीता, गीता, गीता कहने से जो होता है, वही गीता का सार है। १० बार गीता-गीता कहने पर वह तागी, त्यागी, त्यागी हो जायेगा और त्याग ही गीता का सार है।

इस त्याग के सम्बन्ध में हम लोगों के मन में बहुत भ्रांत धारणा है। इसके कारण हम जितने अत्यागपूर्ण, आसक्तियुक्त सकाम कर्म हैं, उन सभी कर्मों को करते हैं, और ऐसा सोचते हैं कि हम साधना कर रहे हैं। हम इन सबसे मुक्त हैं। भगवान कहते हैं, महापुरुषों ने जो बात कही है, हमें भी उसी प्रकार कर्म करना है – महाजनो येन गतः स पन्थाः। 'यज्ञार्थ कर्म' का तात्पर्य हुआ – अपने स्वार्थ का निःशेष त्याग करना। स्वामीजी कहते हैं, जिस दिन से हम पूर्ण निस्वार्थ होकर केवल लोक-कल्याण की इच्छा से, गीता की भाषा में लोकसंग्रह चिकीर्षु होकर कार्य करेंगे, उस दिन से हमारे जीवन का प्रत्येक कर्म यज्ञ बन जायेगा। जब हमारे सभी कर्म यज्ञ बन जायेंगे, तब स्वयं हमारा संर्पूण जीवन ही यज्ञमय हो जायेगा। स्वामीजी कहते हैं – A time must come in your life when your every breath must become worship or prayer. – तुम्हारे जीवन में एक ऐसा समय अवश्य आयेगा, जब तुम्हारा प्रत्येक

श्वास-प्रश्वास प्रार्थना और पूजा हो जायेगा ।

जब युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ का आयोजन किया था, तब उन्होंने बहुत से लोगों को आमन्त्रित किया था । बहुत विशाल आयोजन हुआ था । महाभारत में जीवन जैसा है, वैसा वर्णित है । मनुष्य का जैसा स्वभाव होता है, उसका विस्तृत वर्णन है । बीच-बीच में कुछ आदर्श की बातें भी कहीं गयी हैं । किन्तु रामायण में जीवन जैसा होना चाहिए, आदर्श जीवन कैसा होना चाहिए, यह बताया गया है । भगवान राम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं और भगवान कृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं । मनुष्य का जीवन कैसा है, मनुष्य कितना नीच हो सकता है, यह दुर्योधन की सभा में महारानी द्रोपदी को विवस्त्र करने की घटना से पता चलता है । जैसा दुर्योधन और दु:शासन ने किया था, आज भी पतित से पतित मनुष्य वैसा कुत्सित कर्म करने में संकुचित होता है । ऐसे कुत्सित कर्म करनेवालों की चर्चा महाभारत में आती है । दूसरी ओर भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर आदि की चर्चा है । महाभारत भगवान कृष्ण से परिपूर्ण है । संसार का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ गीता महाभारत में ही है । जैसा हमारा स्वभाव है, उसी को लेकर हम जीवनमुक्त हो सकते हैं । जितने भी पाप हमने क्यों न किये हों, कितनी भी हमारी दुर्बलतायें क्यों न हों, किसी भी प्रकार की हमारी योग्यता न हो, केवल हमारे मन में अपने जीवन की उत्कट कल्याण कामना है, तो गीता माता हमारे लिये हैं । **'गीता गंगोदकं पीत्वा पुर्नजन्म न विद्यते'** – भगवान व्यास का यह आशीर्वाद है ।

हममें से बहुत से लोगों की यह समस्या है कि हम भगवान को न चाहकर, भगवान 'से' चाहते हैं – We want something from God. जैसे अपनी सुविधा के लिए हम मोटरगाड़ी का उपयोग करना चाहते हैं । अभी छोटी गाड़ी है । जब बहुत पैसा मिला तो बड़ी गाड़ी ले लेते हैं । उसमें चलते हैं । हम अपने धन का उपयोग अपने सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये करते हैं । उसी प्रकार बहुत से लोग अपने सांसारिक सुखों के लिए, भगवान का भी उपयोग करते हैं या करना चाहते हैं । गीता ऐसे लोगों के लिये नहीं हैं, कालक्रम में ऐसे लोगों को कुछ सहायता इससे मिलती है, लेकिन गीता का उद्देश्य परमार्थ है ।

अर्जुन, संजय और धृतराष्ट्र ने भी गीता सुनी थी । धृतराष्ट्र के जीवन में गीता का कुछ लाभ नहीं हुआ । उन्होंने सिर्फ गीता सुनी । गीता का लाभ संजय और अर्जुन को मिला । और अर्जुन के माध्यम से सारे विश्व को मिला ।

हमारे जीवन का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति आत्मसाक्षात्कार या परम भक्ति की प्राप्ति है । यदि हमारे जीवन का लक्ष्य यह नहीं है, यदि हमारा लक्ष्य काम और अर्थ है, तो गीता हमारे जीवन में उपयोगी नहीं होगी ।

गीता के कुछ महाश्लोक हम देख रहे थे । तृतीय अध्याय का ९ वाँ श्लोक यह महाश्लोक है, जिसकी चर्चा मैंने की थी । ऐसे कुछ श्लोकों में कर्मयोग के सम्पूर्ण दर्शन को निचोड़कर रख दिया गया है । मानो भगवान ने सागर को गागर में भर दिया हो । कर्मयोग क्या है और कर्म कैसे करें, यह भगवान ने बताया है । सरल शब्दों में यह है कि जब हमारे जीवन से 'मैं' हट जायेगा, अहंकर मिट जायेगा, तब हमारे ह्रदय में परमेश्वर प्रतिष्ठित हो जायेगा और तब हमारे जीवन का प्रत्येक कर्म भगवान की पूजा हो जायेगी, योग हो जायेगा ।

निरहंकारी व्यक्ति के बारे में भगवान कहते हैं –

यस्य नांहकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमान्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ।।
(१८.१७)

ऐसा व्यक्ति जिसकी बुद्धि ईश्वर को छोड़कर और कहीं लिप्त नहीं होती है, तथा जिसके मन में अहंकार नहीं है, यदि वह इन सभी लोकों की हत्या कर दे, तो भी न तो वह किसी की हत्या करता है और न ही वह बंधन में पड़ता है । यथार्थ कर्म का हमारे जीवन में यही अर्थ है कि मेरे स्थान पर प्रभु आ गये । मैं यंत्रमात्र हूँ, मैं कर्ता नहीं हूँ । मुझे माध्यम बनाकर परमात्मा कर्म कर रहे हैं ।

प्रवचनकार के मन में अगर भीतर से अनुभव हो कि प्रभु ही मेरे मुख से श्रोताओं को समझा रहे हैं, तो यह प्रवचन वक्ता के लिए पूजा हो जाती है । और यदि मन में यह भावना हो कि मैं गीता का प्रवचन कर रहा हूँ, तो गीता का यह प्रवचन मेरे जीवन में महान बंधन का कारण होगा । यद्यपि यह गीता प्रवचन है, फिर भी अहं के कारण यह मुझे संसार में बाँधेगा । बाँधने वाला यह अहं या कर्ता है । भगवान ही मेरे द्वारा कर्म कर रहे हैं, यही भावना होनी चाहिये ।

यज्ञौ वै विष्णु – यज्ञ ही विष्णु है की चर्चा मैंने की थी । इसके बाद के श्लोकों में भगवान बताते हैं कि प्रजापति ब्रह्मा ने सृष्टि की और उन्होंने इसको यज्ञ के साथ उत्पन्न किया ।

सहयज्ञा: प्रजा: सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।। (३.१०)

अर्थात् प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजाओं की सृष्टि कर कहा, तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ । यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित वस्तु प्रदान करने वाला हो ।

पहली बार जब सृष्टि की रचना हुई, तो ब्रह्मा ने यज्ञ के साथ इस सृष्टि की रचना की – सहयज्ञा: प्रजा: सृष्टवा । हमारे हिन्दू दर्शन में पहले और बाद की कोई बात नहीं है, हम प्रलय और सृष्टि में विश्वास करते हैं, जो अनादि अनन्त है तथा चक्र के रूप में चलता है ।

हमारे यहाँ सृष्टि कल्पों में है। एक कल्प समाप्त हुआ और दूसरा कल्प चालू हो गया। हमारे पुराणों में अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की धारणायें हैं। इसलिये सृष्टि अनादि और अनन्त है। पहले दिन कब भगवान ने कहा यह प्रश्न नहीं है। एक सृष्टि के पहले दिन कहा, यह हो सकता है। भगवान कह रहे हैं –

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम वाप्स्यथ ।। (३.११)

अर्थात् इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरे को उन्नत करते हुये, तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे।

इस यज्ञ से, अर्थात् निष्काम भाव से किये गये कर्म से, देवता हमारी सहायता करते हैं। हम ऐसा सोचते हैं कि संसार हमें जैसा दिख रहा है, वैसा ही है, किन्तु ऐसा नहीं है। यह संसार, सृष्टि अनन्त आयामी है। स्वामी विवेकानन्दजी ने अमेरिका के एक व्याख्यान में कहा है कि अभी मैं आप लोगों के सामने व्याख्यान दे रहा हूँ। इसी कमरे में सैकड़ों अशरीरी आत्मायें आ-जा रही हैं, उन्हें आप-हम नहीं देख पा रहे हैं और भूत-प्रेत हमको नहीं देख पा रहे हैं। किन्तु यदि मैं अपने मन को उस स्तर पर उठा लूँ, जिस स्तर पर वे भूत-प्रेत आदि हैं, तो मेरे लिये भी यह सृष्टि अदृश्य हो जायेगी और मैं उन भूत-प्रेतों को देख सकूँगा। मन के स्तर के अनुसार ये घटनायें होती हैं। देवता हैं, इनको देखने के लिए मन का वैसा स्तर भी चाहिए। वैसे ही यह संसार भी है।

स्वामी अभेदानन्द महाराज को साधना के समय बहुत से देव-देवीओं के दर्शन होते थे। एक दिन श्रेष्ठ अंतिम दर्शन हुआ। उन्होंने उसे ठाकुरजी को बताया। सुनकर ठाकुर ने कहा – ''आज तुझे वैकुण्ठ का दर्शन हो गया। इसके बाद अब देवी-देवताओं के दर्शन तुझे नहीं होंगे।''

मेरे जीवन का यह सौभाग्य है कि जिस महापुरुष का मैंने संग किया, मुझे उनके पास रहने को मिला, उन्होंने अभेदानन्दजी को देखा था। उन्होंने अभेदानन्द जी से प्रश्न पूछा था, ''महाराज हमने सुना है और पढ़ा है कि आपने बहुत से देवी-देवताओं के दर्शन किये हैं?'' अभेदानन्दजी ने उत्तर में कहा, ''मुझे अनेक देवी-देवताओं के प्रत्यक्ष दर्शन हुए हैं, जैसे तुम लोगों को देख रहा हूँ, इससे भी स्पष्ट देखा हूँ, बातचीत भी किया हूँ। बैकुण्ठ के भी दर्शन हुए हैं। तुम्हें भी दर्शन हो सकते हैं, यदि तुम तुम्हारे गुरु-उपदिष्ट पथ से तीव्र साधना करो। किन्तु उसकी आवश्यकता नहीं हैं, तुम्हें तुम्हारे गुरु ने जैसा कहा है, वह करते जाओ।''

अर्थात् इस संसार में ये देवता आदि भी हैं। यदि हम सत्कार्य करते हैं, शुभ कार्य करते हैं, नि:स्वार्थ होकर जगत कल्याण का प्रयत्न करते हैं, अहंकार हटाकर कर्म करते हैं, तो इन देवताओं के हमें भी दर्शन हो सकते हैं। हमारा अहंकार इन-दर्शनों को नहीं होने देता है। इसलिये भगवान कहते हैं परस्परम् भावयन्त: – निरहंकार होकर परस्पर प्रेम और सद्भाव से कर्म करो। तुम्हे जो कुछ भी मिला है, वह देवताओं की कृपा से मिला है। तुम सब लोग और जो कुछ तुमको देवताओं ने दिया है, ईश्वर की कृपा से मिला है, उसको देवताओं के दिये बिना, व्यक्तिगत भोग के लिये उसका उपयोग करोगे, तो तुम चोर हो सकोगे।

यदि देवताओं को उनका भाग समर्पित करोगे, तो ये देवता लोग तुम्हारे सत्कार्य से प्रसन्न होंगे। जब तुम निरहंकार होकर इस भाव से काम करोगे कि मैं यंत्रमात्र हूँ, मेरे द्वारा ईश्वर ही काम कर रहे हैं, तो भगवान प्रसन्न होंगे। यज्ञ से प्रसन्न हुए देवता लोग तुमको अभिष्ट प्रदान करेंगे 'इष्टान भोगान् दास्यन्ते'। जिस भोग की कामना तुम कर रहे हो, जो तुम चाहते हो, जो तुम्हें प्रिय है, वह देंगे।

जहाँ माँग, कामना आयी कि वहाँ से देवता और परमात्मा विलुप्त हो जाते हैं। जहाँ भी हमारी प्रार्थना में सांसारिक माँग आयी, सकाम प्रार्थना हुई, तो भले ही वह प्रार्थना पूर्ण हो जाती है, किन्तु आध्यात्मिक जीवन से हम भ्रष्ट हो जाते हैं। हमारा जीवन पतनोन्मुख हो जाता है। हम आध्यात्मिक साधना से च्युत हो जाते हैं। ईश्वर की कृपा से मिले हुए भोग को सुविधाओं को, यदि हम केवल अपने स्वार्थ के लिये, अपने सुख के लिए उपयोग करेंगे, तो हम चोर हो जायेंगे और हमें उसका दंड मिलेगा ही। अत: जो कुछ सुविधायें प्रभु ने हमें दी हैं, उस पर सबसे प्रथम अधिकार समष्टि, सर्वजन का है। हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक जो कुछ भी हमारे पास है, वह इस नर-नारायण की सेवा में लगे। नर-नारायण क्यों? भगवान व्यास कहते हैं – नहि मानुषात् किंचित् श्रेष्ठ अस्ति – मनुष्य से श्रेष्ठ इस संसार में कुछ भी नहीं है। अत: जो हमें अच्छा लगता है, वह हम दूसरों की सेवा में लगाते हैं। देवताओं को चढ़ाते हैं, उससे वे देवता हम पर प्रसन्न होते हैं और हमारे इष्ट की पूर्ति करते हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

कठोपनिषद्-भाष्य (२७)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

यत् प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म वक्ष्यामि इति तत् आह –

यमराज ने जो वचन दिया था – मैं तुम्हें गोपनीय ब्रह्म के विषय में बताऊँगा – अब उसी को बताते हैं –

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं
कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।।
एतद्वै तत् ।। २/२/८ (९४) ।।

अन्वयार्थ – **सुप्तेषु** (इन्द्रियों आदि के) निद्रित होने पर भी **यः एषः पुरुषः** यह जो पुरुष **कामम् कामम्** विभिन्न प्रकार के भोगों का **निर्मिमाणः** निर्माण करते हुए **जागर्ति** जाग्रत रहता है; **तत् एव** वही (सर्व शास्त्रों में) **शुक्रम्** शुद्ध, **तत् ब्रह्म** वही ब्रह्म (और) **तत् एव** वही **अमृतम्** अमृत **उच्यते** कहलाता है। **सर्वे** समस्त **लोकाः** (पृथ्वी आदि) लोक **तस्मिन्** उस (ब्रह्म) में ही **श्रिताः** आश्रित हैं, **तत् उ** उस सर्वात्मक ब्रह्म को **कः चन** कोई भी **न अत्येति** अतिक्रम नहीं कर सकता। **एतत् वै तत्** यही वह (तुम्हारे द्वारा जिज्ञासित) ब्रह्म है।

भावार्थ – (इन्द्रियों आदि के) निद्रित होने पर भी यह जो पुरुष विभिन्न प्रकार के भोगों का निर्माण करते हुए जाग्रत रहता है; वही (सर्व शास्त्रों में) शुद्ध, वही ब्रह्म और वही अमृत कहलाता है। समस्त (पृथ्वी आदि) लोक उस (ब्रह्म) में ही आश्रित हैं, उस सर्वात्मक ब्रह्म का कोई भी अतिक्रम नहीं कर सकता। यही वह (तुम्हारे द्वारा जिज्ञासित) वस्तु है।

भाष्यम् – य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति । कथम्? कामं कामं तं तम् अभिप्रेतं स्त्री-आदि-अर्थम् अविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयन् जागर्ति पुरुषो यः तदेव शुक्रं शुभ्रं तद्ब्रह्म न अन्यत् गुह्यं ब्रह्म अस्ति । तदेव अमृतम् अविनाशि उच्यते सर्व-शास्त्रेषु । किं च पृथिवि-आदयः लोकाः तस्मिन् एव सर्वे ब्रह्मणि आश्रिताः सर्व-लोक-कारणत्वात् तस्य । तदु नात्येति कश्चन इत्यादि पूर्ववत् एव ।। २/२/८ (९४) ।।

भाष्य-अनुवाद – प्राणादि आदि के सो जाने के बाद भी जो नहीं सोता, जागता रहता है। कैसे? (अज्ञान के द्वारा) उसके द्वारा अभिलाषित स्त्री आदि प्रत्येक वस्तु की रचना करता हुआ जो पुरुष (प्रत्यगात्मा) जागता रहता है, वही शुद्ध है, वही ब्रह्म है – इसके अतिरिक्त अन्य कोई गोपनीय ब्रह्म नहीं है। वस्तुत: सभी शास्त्रों में उसी को अमृत या अविनाशी कहा गया है। इसके अतिरिक्त पृथ्वी आदि समस्त लोक उसी ब्रह्म में आश्रित हैं, क्योंकि वही सभी लोकों का मूल कारण (उद्गम) है। 'उसका कोई अतिक्रम नहीं कर सकता' आदि पहले के समान ही समझ लेना चाहिये।

* * *

अनेक-तार्किक-कुबुद्धि-विचालित-अन्तःकरणानां प्रमाण-उपपन्नम् अपि आत्मैकत्व-विज्ञानम् असकृत् उच्य-मानम् अपि अनृजु-बुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि न आधीयते इति तत् प्रतिपादन आदरवती पुनः पुनः आह श्रुतिः –

आत्मा के एकत्व का ज्ञान प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो जाने पर भी, इसके बारम्बार कहे जाने के बाद भी, अनेक तार्किकों की कुबुद्धि द्वारा विचालित टेढ़ी बुद्धिवाले ब्रह्म-जिज्ञासुओं के चित्त में इसकी धारणा नहीं होती, अत: इसके प्रतिपादन में आग्रह रखनेवाली श्रुति (उपनिषद्) इसे बारम्बार कहती है –

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।। २/२/९ (९५)

अन्वयार्थ – **यथा** जैसे **एकः** एक **अग्निः** अग्नि **भुवनम्** ब्रह्माण्ड में **प्रविष्टः** प्रविष्ट होकर **रूपम् रूपम् प्रतिरूपः** (काष्ठ आदि दहनशील वस्तुओं की) आकृतियों के अनुसार अनेक आकृतियों वाला **बभूव** हो गया है; **तथा** वैसे ही **एकः** एक **सर्व-भूत-अन्तः-आत्मा** सभी प्राणियों के अन्तर में प्रविष्ट परमात्मा **रूपम् रूपम् प्रतिरूपः** विभिन्न जीवों की आकृतियों के सदृश हो गया है; **बहिः च** और उनके बाहर भी स्थित है।

भावार्थ – जैसे एक अग्नि ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर (काष्ठ आदि दहनशील वस्तुओं की) आकृतियों के अनुसार अनेक आकृतियों वाला हो गया है; वैसे ही समस्त प्राणियों के अन्तर में प्रविष्ट एक अद्वितीय परमात्मा विभिन्न जीवों की आकृतियों के सदृश हो गया है; और उनके बाहर भी स्थित है।

भाष्यम् – अग्निः यथा एक एव प्रकाशात्मा सन् भुवनं भवन्ति अस्मिन् भूतानि इति भुवनमयं लोकः तम् इमं प्रविष्टः अनुप्रविष्टं रूपं रूपं प्रति दारु-आदि दाह्य-भेदं प्रतीति इत्यर्थः प्रतिरूपः तत्र तत्र प्रति-रूपवान् दाह्य-भेदेन बहुविधो बभूव; एक एव तथा सर्वभूत-अन्तरात्मा सर्वेषां भूतानाम् अभ्यन्तर आत्मा अति-सूक्ष्मत्वाद् दारु-आदिषु इव सर्व-देहं प्रति प्रविष्टत्वात् प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेन अविकृतेन स्वरूपेण आकाशवत् ।। २/२/९ (९५) ।।

भाष्य-अनुवाद – जैसे अग्नि एकमात्र तथा प्रकाशमान है, तथापि वह इस भुवन – समस्त प्राणियों का उत्पत्ति-स्थान होने के कारण इसे भुवन कहा जाता है अर्थात् इस संसार – में प्रविष्ट होकर काष्ट आदि दाह्य पदार्थों की आकृतियों के अनुसार उन-उन दाह्य पदार्थों की आकृतियों को धारण करके अनेक रूपों वाला हो जाता है, वैसे ही समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा एक होकर भी – अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण काष्ठ आदि में अग्नि के समान ही समस्त देहों में प्रविष्ट होकर उनमें से प्रत्येक के रूप वाला हो गया है; और आकाश के समान अपने अविकारी स्वरूप से उनके बाहर भी है।

* * *

तथा अन्यः दृष्टान्तः –

इसी तरह का एक अन्य दृष्टान्त भी है –

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।। २/२/१० (९६)

अन्वयार्थ – **यथा** जैसे **एकः** एक **वायुः** वायु **भुवनम्** ब्रह्माण्ड में **प्रविष्टः** प्रविष्ट होकर **रूपम् रूपम् प्रतिरूपः** (शरीरों में प्राण आदि के रूप में) विभिन्न आकृतियों के अनुसार अनेक आकृतियों वाला **बभूव** हो गया है; **तथा** वैसे ही **एकः** एक **सर्व-भूत-अन्तः-आत्मा** सभी प्राणियों के अन्तर में प्रविष्ट परमात्मा **रूपम् रूपम् प्रतिरूपः** विभिन्न जीवों की आकृतियों के सदृश हो गया है; **बहिः च** और उनके बाहर भी स्थित है।

भावार्थ – जैसे एक वायु ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर (शरीरों में प्राण आदि के रूप में) विभिन्न आकृतियों के अनुसार अनेक आकृतियों वाला हो गया है; वैसे ही सभी प्राणियों के अन्तर में प्रविष्ट एक अद्वितीय परमात्मा विभिन्न जीवों की आकृतियों के सदृश हो गया है; और उनके बाहर भी स्थित है।

भाष्यम् – वायुः यथा एक इत्यादि । प्राणात्मना देहेषु अनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव इत्यादि समानम् ।। २/२/१० (९६) ।।

भाष्य-अनुवाद – जैसे एक ही वायु प्राण के रूप में समस्त देहों में प्रविष्ट होकर उनकी आकृतियों के समान हर आकृति वाला हो जाता है, इत्यादि पूर्ववत्।

* * *

एकस्य सर्वात्मत्वे संसार-दुःखित्वं परस्य एव तत् इति प्राप्तम्, अतः इदम् उच्यते –

इससे ऐसा लग सकता है कि यदि सबकी अन्तरात्मा एक ही हो, तो संसार की दुःखमयता भी तो परब्रह्म की ही होगी, अतएव आगे कहते हैं –

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।। २/२/११ (९७)

अन्वयार्थ – **सूर्यः** सूर्य **यथा** जैसे **सर्व-लोकस्य** समस्त प्राणियों का **चक्षुः** नेत्र है, (तथापि) **चाक्षुषैः** नेत्र-विषयक **बाह्य-दोषैः** बाह्य वस्तुओं के दर्शन से होनेवाले अपवित्रता या पाप से **न लिप्यते** लिप्त नहीं होता; **तथा** वैसे ही **सर्व-भूत-अन्तरात्मा** सभी प्राणियों की अन्तरात्मा **एकः** अद्वितीय होकर भी **लोक-दुःखेन** जागतिक दुःखों से **न लिप्यते** लिप्त नहीं होती; (क्योंकि) **बाह्यः** वह उसके स्पर्श के परे स्थित है।

भावार्थ – सूर्य जैसे समस्त प्राणियों का नेत्र है, (तथापि) नेत्र-विषयक बाह्य वस्तुओं के दर्शन से होनेवाले अपवित्रता या पाप से लिप्त नहीं होता; वैसे ही सभी प्राणियों की अन्तरात्मा अद्वितीय होकर भी जागतिक दुःखों से लिप्त नहीं होती; (क्योंकि) वह उसके स्पर्श के परे स्थित है।

भाष्यम् – सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेन उपकारं कुर्वन् मूत्र-पुरीष-आदि-अशुचि-प्रकाशनेन तत् दर्शिनः सर्व-लोकस्य चक्षुः अपि सन् न लिप्यते चाक्षुषैः अशुचि-आदि-दर्शन-निमित्तैः आध्यात्मिकैः पाप-दोषैः बाह्यैः च अशुचि-आदि संसर्ग-दोषैः । एकः सन् तथा सर्वभूत-अन्तरात्मा न लिप्यते लोक-दुःखेन बाह्यः ।

भाष्य-अनुवाद – जैसे सूर्य अपने प्रकाश के द्वारा नेत्रों की सहायता करते हुए मल-मूत्र आदि अशुचि पदार्थों को प्रकाशित करके दिखाने वाला होकर देखनेवाले सभी लोगों का नेत्र बन जाता है, तथापि वह उन अशुचि पदार्थों के दर्शन-जनित आध्यात्मिक पाप के दोषों तथा अशुचि पदार्थों आदि के संसर्ग-रूप उनके बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता; वैसे ही सभी प्राणियों की अन्तरात्मा एक होते हुए भी संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होती, क्योंकि वह उनसे बाह्य या अतीत है।

लोको हि अविद्यया स्वात्मनि अध्यस्तया काम-कर्म-उद्भवं दुःखम् अनुभवति । न तु सा परमार्थतः स्वात्मनि । यथा रज्जु-शुक्तिको-षर-गगनेषु सर्प-रजत-उदक-मलानि न रज्जु-आदीनां स्वतः दोष-रूपाणि सन्ति । संसर्गिणि विपरीत-बुद्धि-अध्यास-निमित्तात् तत् दोषवत् विभाव्यन्ते ।

न तत्-दोषैः तेषां लेपः। विपरीत-बुद्धि-अध्यास-बाह्या हि ते।

लोग अपनी आत्मा पर अध्यस्त अविद्या के द्वारा (प्रेरित) कामना तथा कर्म से उत्पन्न दु:ख का अनुभव करते हैं। जैसे रस्सी में सर्प, शुक्ति में चाँदी, मरु-मरीचिका में जल तथा आकाश में मलीनता – स्वयं रस्सी आदि के स्वरूपगत दोष नहीं हैं। संसर्गी (रस्सी आदि अधिष्ठान) पर विपरीत बुद्धि का अध्यास हो जाने के कारण वह दोषवान् प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः वह उन दोषों से लिप्त नहीं होता, क्योंकि विपरीत बुद्धि का अध्यास बाहर ही रहता है।

तथा आत्मनि सर्वो लोकः क्रिया-कारक-फलात्मकं विज्ञानं सर्प-आदि-स्थानीयं विपरीतम् अध्यस्य तत् निमित्तं जन्म-मरण-आदि-दुःखम् अनुभवति । न तु आत्मा सर्व-लोक -आत्मा-अपि सन् विपरीत-अध्यारोप-निमित्तेन लिप्यते लोक-दुःखेन । कुत? बाह्यः, रज्जु-आदिवत् एव विपरीत-बुद्धि-अध्यास-बाह्यः हि सः इति ।। २/२/११ (९७) ।।

इसी प्रकार सभी लोग (रस्सी आदि पर) सर्प आदि विपरीत वस्तुओं के अध्यारोप के जैसे आत्मा में क्रिया, कारक, कर्मफल के बोध का अध्यारोप करके उस कारण जन्म, मृत्यु आदि के दु:खों का अनुभव करते हैं। पर आत्मा, सभी लोगों की आत्मा होते हुए भी विपरीत अध्यारोप के कारण लोगों के दु:खों से लिप्त नहीं होती। क्यों? इसलिये कि यह बाह्य है – रज्जु आदि के समान ही विपरीत बुद्धि के अध्यास से बाहर है। ❖(क्रमशः)❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं दृढतरं संस्थाप्य बाह्येन्द्रियं
स्वस्थाने विनिवेश्य निश्चलतनुश्चोपेक्ष्य देहस्थितिम् ।
ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य तन्मयतया चाखण्डवृत्त्याऽनिशं
ब्रह्मानन्दरसं पिबात्मनि मुदा शून्यैः किमन्यैर्भृशम् ।।३७८।

अन्वय – लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं दृढतरं संस्थाप्य, बाह्य-इन्द्रियं स्व-स्थाने विनिवेश्य, च निश्चल-तनुः देह-स्थितिम् उपेक्ष्य, ब्रह्मात्मैक्यं उपेत्य, च तन्मयतया अखण्ड-वृत्त्या अनिशं आत्मनि मुदा ब्रह्मानन्द-रसं पिब, अन्यैः शून्यैः भृशम् किं?

अर्थ – ब्रह्मरूपी लक्ष्य पर मन को खूब दृढ़तापूर्वक स्थापित करके, कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोककर उनके स्व-स्थानों में स्थिर करके, शरीर को निश्चल करके और उसके अस्तित्व की उपेक्षा करके, ब्रह्म तथा आत्मा की एकता की अनुभूति करके, उसी में तन्मयतापूर्वक अखण्ड-वृत्ति के साथ निरन्तर ब्रह्मानन्द-रस का आस्वादन करते रहो। अन्य निस्सार फल देनेवाले अनुष्ठानों से क्या लाभ?

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम् ।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ।।३७९।।

अन्वय – दुःख-कारणम् कश्मलं अनात्म-चिन्तनं त्यक्त्वा यद् मुक्ति-कारणम् आनन्द-रूपं आत्मानं चिन्तय ।

अर्थ – दु:खों के कारण मोहरूप जागतिक विषयों का चिन्तन को त्याग करके मुक्ति के कारण-स्वरूप आनन्दमय आत्मा का चिन्तन करो।

एष स्वयंज्योतिरशेषसाक्षी
विज्ञानकोशे विलसत्यजस्त्रम् ।
लक्ष्यं विधायैनमसद्विलक्षण-
मखण्डवृत्त्याऽऽत्मतयाऽनुभावय ।।३८०।।

अन्वय – एषः स्वयं-ज्योतिः अशेष-साक्षीः विज्ञानकोशे अजस्त्रम् विलसति । असद्-विलक्षणं एनं लक्ष्यं विधाय अखण्ड-वृत्त्या आत्मतया अनुभावय ।

अर्थ – यह स्वयंज्योति तथा सबका साक्षी आत्मा विज्ञानमय कोश में निरन्तर असंख्य रूपों में विराज रहा है। उस असत् से भिन्न आत्मा को लक्ष्य बनाकर, अखण्ड वृत्ति की सहायता से उसका अपनी आत्मा (मैं वही हूँ) के रूप में अनुभव करो।

एतमच्छिन्नया वृत्त्या प्रत्ययान्तरशून्यया ।
उल्लेखयन्विजानीयात्स्वस्वरूपतया स्फुटम् ।।३८१।।

अन्वय – एतम् अच्छिन्नया प्रत्यय-अन्तर-शून्यया वृत्त्या उल्लेखयन् स्व-स्वरूपतया स्फुटं विजानीयात् ।

अर्थ – भिन्न वृत्तियों का वर्जन करके, अविच्छिन्न भाव से इस (आत्मा) का चिन्तन करते हुए अपने स्वरूप को स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिये।

अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु संत्यजन् ।
उदासीनतया तेषु तिष्ठेत्स्फुटघटादिवत् ।।३८२।।

अन्वय – अत्र आत्मत्वं दृढी-कुर्वन् अहम्-आदिषु संत्यजन् स्फुट-घटादिवत् तेषु उदासीनतया तिष्ठेत् ।

अर्थ – इस (स्वरूप) में आत्मबोध (अहंता) को दृढ़ करके, अहंकार आदि का सम्यक् रूप से त्याग करके, उस (देह आदि) के प्रति टूटे हुए घट के समान उदासीन भाव से रहना चाहिये।

विशुद्धमन्तःकरणं स्वरूपे
निवेश्य साक्षिण्यवबोधमात्रे ।
शनैः शनैर्निश्चलतामुपानयन्
पूर्णं स्वमेवानुविलोकयेत्ततः।।३८३।।

अन्वय – विशुद्धं अन्तःकरणं साक्षिणि अवबोध-मात्रे स्वरूपे निवेश्य शनैः शनैः निश्चलतां उपानयन् ततः पूर्णं स्वं एव अनु-विलोकयेत् ।

अर्थ – विशुद्ध मन को – अपने साक्षिस्वरूप, बोधमात्र, स्वरूप (आत्मा) में लगाकर, धीरे-धीरे स्थिरता की उपलब्धि करके, अपने पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार कर लो।

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

❖ (क्रमशः) ❖

बेलूड़ मठ स्थित रामकृष्ण मिशन की कार्यकारिणी समिति की वार्षिक रिपोर्ट (२०११-१२)

रामकृष्ण मिशन की १०३वीं वार्षिक साधारण सभा बेलूड मठ में रविवार १६ दिसम्बर, २०१२ को अपराह्न ३.३० बजे आयोजित की गयी।

श्रीरामकृष्ण का १७५वाँ जन्मोत्सव मुख्यालय तथा शाखा-केन्द्रों के द्वारा सेमिनार, सर्वधर्म-सम्मेलन, शोभा-यात्रा आदि का आयोजन करके बड़ी धूमधाम से मनाया गया।

स्वामी विवेकानन्द के १५० वें जन्मवर्ष की स्मृति में पेरिस स्थित युनेस्को मुख्यालय द्वारा पेरिस के टॉउन हॉल में स्वामीजी पर एक प्रदर्शनी का उद्घाटन किया गया। कोलकाता मेट्रो रेलवे के सहयोग से सी.सी.टी.वी. के माध्यम से शहर के विभिन्न मेट्रो स्टेशनों पर स्वामीजी से सम्बन्धित विभिन्न कार्यक्रमों के प्रसारण की व्यवस्था की गयी है। कर्नाटक राज्य के शाखा केन्द्रों ने सम्मिलित रूप से 'स्वामी विवेकानन्द ज्योति-यात्रा' का आयोजन किया। उस ज्योति-यात्रा के माध्यम से राज्य के करीब सभी जिलों की परिक्रमा करते हुए ४००० किलोमीटर की दूरी तय की गयी। वर्ष २०१० में देश में चतुर्वर्षव्यापी जिन सेवाप्रकल्पों का शुभारम्भ किया गया था, उनकी अग्रगति होती रही। ८ अक्तूबर २०१० से ३१ अगस्त २०१२ तक केन्द्रीय सरकार के अनुदान पर आधारित उन सेवा प्रकल्पों में २८.४० करोड़ रुपये खर्च किये गये। एक संक्षिप्त प्रतिवेदन इसके साथ संलग्न है।

शिक्षा-क्षेत्र में निम्नलिखित नये कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं – (१) विवेकानन्द विश्वविद्यालय ने कृषि-जीवप्रौद्योगिकी (Agricultural Biotechnology) एवं ग्रामीण विकास विषयों पर पी.एच.डी. पाठ्यक्रम शुरू किया। विश्वविद्यालय ने अपने नरेन्द्रपुर परिसर में क्रीड़ा-विज्ञान में एक वर्षीय स्नातकोत्तर डिप्लोमा पाठ्यक्रम भी आरम्भ किया। (२) सारदापीठ केन्द्र के विद्यामन्दिर महाविद्यालय द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध प्रायोगिक रसायन (Applied Chemistry) में एम.एस.सी. पाठ्यक्रम चालू किया गया। राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद् (National Assessment & Accreditation Council) चेन्नई विद्यापीठ के विवेकानन्द कॉलेज को 'ए' ग्रेड (उच्चतम श्रेणी) के रूप में सम्मानित किया गया।

चिकित्सा-क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय नये कार्य निम्नलिखित हैं – (१) लखनऊ अस्पताल में विभिन्न उपकरणों सहित पाँच शय्याओं सहित एक आधुनिक हृदय-शल्यचिकित्सा कक्ष स्थापित हुआ। कोलकाता स्थित सेवा-प्रतिष्ठान में १६ स्तरों वाले सी. टी. स्केनर तथा सहायक उपकरणों सहित आर.एक्स. लिथोट्रिप्टर कम्पैटिबल बस्केट (RX Lithortripter Compatible Busket) लगाया गया। (३) वृन्दावन अस्पताल में दो स्तरों वाली सी.टी. स्केनर मशीन लगाई गई। (४) देवघर केन्द्र में ग्रामीण सचल चिकित्सा सेवा शुरू किया गया।

ग्रामीण विकास के क्षेत्र में निम्नलिखित नये प्रकल्प विशेष उल्लेखनीय हैं – (१) रॉची (मोराबादी) केन्द्र के द्वारा २२२७.७६ एकड़ जमीन को धान-बीज-उत्पादन के अन्तर्गत लाया गया। १३ सिंचाई इकाइयों तथा ११७ प्रस्रवण तालाबों (परकुलेशन टैंक्स) का निर्माण किया गया तथा एक सचल मिट्टी-परीक्षा केन्द्र चालू किया गया। (२) नरेन्द्रपुर लोकशिक्षा-परिषद के द्वारा कई प्रकल्प चालू किये गये, जैसे – लाख एवं सिल्क (टसर) उत्पादन में प्रशिक्षण देकर ग्रामीण स्व-रोजगार को प्रोत्साहन, लकड़ी के काम में न आने वाले औषधीय वनीय उत्पादकों का संशोधन, दूर-दराज के गाँवों का विद्युतीकरण, प्रौढ़-शिक्षा केन्द्र का शुभारम्भ आदि। (३) छत्तीसगढ़ के नारायणपुर केन्द्र ने दूरवर्ती गाँवों में १६ गहरे नल-कूपों, ४ तालाबों तथा ६ कुँओं की खुदाई की।

इस वर्ष के दौरान रामकृष्ण मठ के द्वारा पश्चिम बंगाल के सिंथी (कोलकाता) तथा गौरहाटी (हुगली) उपकेन्द्रों को शाखा केन्द्र में उन्नीत किया गया।

मठ के अन्तर्गत निम्नलिखित नये प्रकल्प विशेष उल्लेखनीय हैं, चेन्नई मठ के द्वारा स्वामी विवेकानन्द पर भारतवर्ष के पहले त्रिविम आयामी चलचित्र का निर्माण करना (२) पूना तथा त्रिचुर शाखा केन्द्रों के द्वारा सचल पुस्तक-विक्रय केन्द्र का शुभारम्भ। (३) तिरुअनन्तपुरम अस्पताल में इको-कार्डियो-ग्राम सहित अल्ट्रासॉउण्ड स्कैनिंग मशीन तथा कलर डोप्लर का संस्थापन। (४) राजकोट शाखा केन्द्र के द्वारा मदारी (सँपेरा) सम्प्रदाय के लोगों के लिये परवेड़ा गाँव में एक विद्या भवन तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र (vocational training centre) का निर्माण किया गया। साथ ही भुज में छात्रों के लिए एक शेड (shed) भी बनाया गया।

भारत के बाहर निम्नलिखित गतिविधियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं – (१) जापान केन्द्र ने विध्वंसकारी भूकम्प तथा सुनामी के

दौरान राहत कार्य सम्पन्न किये। (२) फीजी स्थित नादी केन्द्र के द्वारा बाढ़-राहत तथा पुनर्वासन के कार्य किये गये। (३) मलेशिया केन्द्र के प्रयास से वहाँ की डाकसेवा कम्पनी ने स्वामी विवेकानन्द पर डाक-टिकट जारी किया। (४) डरबन केन्द्र (दक्षिण-अफ्रीका) ने क्वा माशु में एक उच्च विद्यालय के लिये शिक्षा तथा दक्षता विकास-केन्द्र का निर्माण किया।

इस वर्ष के दौरान मठ और मिशन ने ४.९३ करोड़ रुपये खर्च कर देश के विभिन्न भागों में कई **राहत तथा पुनर्वास के कार्य** किये, जिनमें १६५८ गाँवों के १ लाख २७ हजार परिवार लाभान्वित हुए। निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति, वृद्ध, बीमार तथा असहाय लोगों को आर्थिक सहायता आदि कल्याण-कार्यों में २७.८५ करोड़ रुपये खर्च किये गये, जिससे ५५ लाख ८८ हजार लोग लाभान्वित हुए।

१५ अस्पतालों, १२३ चिकित्सालयों तथा ५९ सचल चिकित्सा-इकाइयों के माध्यम से ७७ लाख ८२ हजार से अधिक रोगियों को चिकित्सा-सेवा प्रदान की गयी, जिसमें ११९.८७ करोड़ रुपये खर्च हुए।

हमारे शिक्षा-संस्थानों में, बाल-विहार से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक के करीब ३ लाख २३ हजार छात्र शिक्षारत रहे। शिक्षा-कार्य में २२०.४२ करोड़ रुपये खर्च किये गये।

ग्रामीण तथा आदिवासी विकास-योजनाओं पर ३७.४६ करोड़ रुपये खर्च किये गये, जिससे ६७.७४ लाख ग्रामीण लाभान्वित हुए। इस अवसर पर हम अपने सदस्यों एवं मित्रों के प्रति उनके सतत् सहयोग के लिये हार्दिक धन्यवाद एवं कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं –

१६ दिसम्बर, २०१२ **(स्वामी सुहितानन्द)**

महासचिव

स्वामी विवकानन्द का १५०वाँ जन्मवर्ष-स्मरणोत्सव

केन्द्र-सरकार के अनुदान पर आधारित सेवा-प्रकल्पों की ८-९-२०१० से ३१-८-२०१२ तक प्रगति का एक संक्षिप्त विवरण – **१. प्रकाशन परियोजना** – स्वामीजी के जीवन और वाणी पर २३ भाषाओं में १० लाख ८२ हजार पुस्तकों तथा १५ शीर्षकों के १३ लाख २५ हजार अन्य पुस्तकों का १० भाषाओं में प्रकाशन किया गया, जिसके तहत २५४ लाख २६ हजार रुपये खर्च हुए। **२. सांस्कृतिक कार्यक्रम परियोजना** – साम्प्रदायिक सद्भाव, सर्वधर्म-संवाद पर ६ राज्य स्तरीय सेमिनार का ४ राज्यों में आयोजन किया गया और आदिवासी तथा लोक-संस्कृति पर क्षेत्रीय कार्यक्रम आयोजित किये गये, जिसके अन्तर्गत ७३.३४ लाख रुपये खर्च हुए। **३. इलेक्ट्रॉनिक प्रचार माध्यम** – व्यक्तित्व-विकास (भाग-१) एवं 'स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में शिक्षा' शीर्षक मल्टीमीडिया प्रभाव के साथ ऑडियों डी.वी.डी. का निर्माण तथा स्वामीजी के जीवन और उपदेशों पर पूर्ण चलचित्र का निर्माण कार्य प्रगति पर है, जिसके तहत अब तक ७३.३४ लाख रुपये खर्च हुए। **४. गदाधर अभ्युदय प्रकल्प** (सर्वांगीण बाल-विकास प्रकल्प) – २३ राज्यों में १७४ केन्द्रों के द्वारा लगभग १७,५०० बच्चों का कल्याण हुआ। इसमें कुल ११ करोड़ ७ लाख १२ हजार रुपये खर्च किये गये। **५. विवेकानन्द स्वास्थ्य परिसेवा प्रकल्प** (शिशु और जननिओं के स्वास्थ्य-सुधार हेतु प्रकल्प) – २२ राज्यों में १२६ केन्द्रों के जरिए लगभग १३,००० बच्चे लाभान्वित हुए। कुल ७ करोड़ २० लाख ७० हजार रुपये खर्च हुए।

६. सारदा पल्ली विकास प्रकल्प (महिला स्व-सशक्तिकरण हेतु प्रकल्प) – ६ राज्यों में १० केन्द्रों के द्वारा लगभग १६१९ महिलाओं का कल्याण हुआ, जिसमें ९९.७६ लाख रुपये खर्च किये गये। **७. स्वामी अखण्डानन्द सेवा प्रकल्प** (गरीबी उन्मूलन हेतु प्रकल्प) – ६ राज्यों में १० केन्द्रों के द्वारा लगभग ११३५ व्यक्तियों की सेवा की गयी, जिसमें ९७.२८ लाख रुपये खर्च किये गये। **८. युवाओं के लिए विशेष कार्यक्रम** – ५ राज्यों में ६ युवा-परामर्श केन्द्र की शुरुआत, ५ राज्यों में राज्य स्तरीय युवा-सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें कुल १०,१११ प्रतिभागियों ने भाग लिया, ६ राज्यस्तर पर तथा ३ क्षेत्रीय स्तर पर युवा-प्रतियोगितायें आयोजित की गयीं, जिसमें कुल १,६१,६५४ प्रतियोगी सहभागी बने, (क) १३ राज्यों में २५३ संस्थानों के ३८१ (गैर-औपचारिक) छात्रों के साथ तथा (ख) १४ राज्यों में ६५६ विद्यालय के २,२९० यूनिट (कक्षा आधारित) के १,०२.९६५ छात्रों को लेकर निरन्तर श्रेणीबद्ध मूल्य बोध-शिक्षा कार्यक्रम आयोजित किये गये, गैर-औपचारिक कार्यक्रम के अन्तर्गत ५ भाषाओं में १८२ शीर्षकों के १५.४९ लाख पुस्तकों का प्रकाशन किया गया। इसमें ४००.६२ लाख रुपये खर्च किये गये। उपर्युक्त परियोजनाओं में कुल २८.४० करोड़ रुपये की राशि व्यय की गयी।

इसके अतिरिक्त कई केन्द्रों ने सरकारी-अनुदान-रहित विविध कार्यक्रमों का आयोजन किया। जैसे – चेन्नै मठ ने विवेकानन्द इल्लम में 'विवेकानन्द : एक जीवन्त अनुभूति' 'Experience Vivekananda' नामक एक अत्याधुनिक मल्टीमीडिया प्रदर्शनी प्रस्तुत की, पोर्ट ब्लेयर केन्द्र द्वारा छात्रों के लिये Vivekananda Value Inculcation Programme (विवेकानन्द आदर्श शिक्षा संवर्धन कार्यक्रम) का आयोजन किया। राजकोट केन्द्र ने ५२ युवकों को लेकर एक 'विवेकानन्द सेवा संगठन' शुरू किया, जिसमें प्राथमिक चिकित्सा, आपदा व्यवस्थापन तथा अन्य राहत कार्यों का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। ❑❑❑